समकालीन यथार्थ-बोध

सिद्धेश्वर

समकालीन यथार्थ-बोध
सिद्धेश्वर

समकालीन यथार्थ-बोध

सिद्धेश्वर

प्रकाशक

सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन

दिल्ली

समकालीन यथार्थ-बोध

कृतिकार	: सिद्धेश्वर
प्रकाशक	: सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन, 'दृष्टि', यू. 207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-110 092.
दूरभाष	: 011-22059410, 22530652
मोबाइल	: 9811281443, 9899238703
फैक्स	: 011-42486862
©	सिद्धेश्वर
E-mail	: sidheshwarprasad@hotmail.com
प्रथम संस्करण	: वर्ष 2006 ई.
शब्द-संयोजन	: पीयूष 202, शुभा अपार्टमेंट, 27/5, राजेन्द्र नगर, साहिबाबाद, गाज़ियाबाद (यू॰पी॰)
मुद्रक	: **कांशी इन्टरप्राइजेज, दिल्ली-९२, भारत**
मूल्य	: सजिल्द 150 रुपये

ISBN- 81-904100-1-6

Samkaleen Yatharth Bodh by Sidheshwar

Price Rs. 150.00

समर्पण

अर्द्धांगिनी श्रीमती बच्ची प्रसाद को, जिन्होंने एकाकी
वार्धक्य एवं सुदृढ़ आर्थिक संबल के अभाव में
व्यवधान-व्याघातों के बीच पारिवारिक एवं
सामाजिक दायित्वों का कुशलतापूर्वक
निर्वहण करते हुए मुझे घर-परिवार
की चिंता से मुक्त रख कर मेरी
सृजण-साधना को सहज
बनाए रखा।

-सिद्धेश्वर

प्राक्कथन

परिवर्तन के नाम पर पीतांबर छीन कर मंदिर को बेशर्म और मूर्ति को नंगा कर देना ही यथार्थ-बोध नहीं है, अपितु यथार्थ-बोध तो वह है जिसमें युग, समाज और सत्य तीनों अपने संयत एवं श्रेष्ठ बोध के दर्शन कराते हैं। डॉ० त्रिभुवन सिंह के मतानुसार 'आधुनिकता युग-बोध और काल-बोध की विशिष्टता का गुण है तथा समकालीनता स्थिति-विशेष का। आधुनिकता का आयाम अत्यंत विस्तृत होता है, किंतु समकालीनता का दायरा सीमित'। 'समकालीन यथार्थ-बोध' की इस कृति में साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, पत्रकारिता, धर्म-कर्म तथा राजनीति का जो समकालीनता के सीमित दायरे में यथार्थ है उसका सही बोध कराने का प्रयास किया गया है।

समाज और राष्ट्र की धड़कन को लोगों के समक्ष प्रस्तुत करना ही तो साहित्य का उद्देश्य है। विध्वंस से सृजन की ओर ले जाना साहित्य की नैतिकता है। आज के इस नारेबाजी मसीहाई के मूल्यहीन वेग और वातावरण में साहित्य, संस्कृति, धर्म, पत्रकारिता, शिक्षा और राजनीति अपना स्थान समाज में खोते जा रहे हैं, जो चिंता का विषय है। इसी की ओर समाज के सजग प्रहरियों तथा साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास है इस 'समकालीन यथार्थ-बोध' में। अनमने होने पर भी समाज, राष्ट्र, युग और आदमी के मन की, कार्यकलापों की, सहज-असहज संवेदना के समग्र रूप की अभिव्यक्ति सभी के मन को भाया है। साहित्य, स्नेह,श्रृंगार और विरह के खुले मैदानों-बगीचों से ही नहीं गुजरा, बल्कि समकालीनता की पगडंडियों पर मिली कुंठा, संत्रास, भ्रष्टाचार एवं मनुष्य--जीवन की सार्थकता के बीच बिखरे सभी अवरोधों से साक्षात्कार करता हुआ अपनी संवेदना को स्वर देता, अमानवीयता का पर्दाफाश करता हुआ, झूठ का नकाब नोचता और असलियत का पुरजोर शब्दों में बड़ी निर्भीकता से बयान करता है। साहित्य जीवन की वीरान राहों, सड़कों, चौराहों, गलियों, बाजारों, महफिलों, मंदिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, गिरजाघरों, उत्सवों, पर्वतों सभी धरातलों पर खड़ा दिखाई देता रहा है। जब चाहे, जहाँ चाहे कोई भी उससे मुखातिब हो सकता है। वह अधिकारों की बस्तियों से भी गुजरा है। साहित्य ने बड़े साहस के साथ संशय, अविश्वास, अमानवीयता, अमर्यादा, छल और कपट के बीहड़ों के बीच की यात्रा की है। संभवत: इस यात्रा के दौरान उसके पाँव भी छिले हों, पर वह संपूर्ण साहसिकता के साथ समग्र मर्यादा लिए अपनी स्वस्थ परंपरा को बिना नकारे नए परिवर्तनों के साथ आज भी अपने पथ पर चला जा रहा है, क्योंकि वह तो पर्याय बन गया है अंतहीन यात्रा का।

साहित्य एक कला है। वह शब्द की कला है। विभिन्न विधाओं में अभिव्यक्त रूप साहित्य का साध्य है। आज उन विधाओं के जरिए जिस प्रकार की चीजें परोसी जा रही हैं उसका विकल्प एक यथार्थपरक कहानी, लघुकथा, कविता, उपन्यास आदि लिख कर ही संभव है, जिसके लिए व्यापक दृष्टि जरूरी है। आज रचनाकारों को उस टीस को पकड़ना होगा जो व्यक्तिगत सामाजिक जीवन छीलता है। इस दृष्टिकोण से केवल आत्म-प्रकाशन और कलात्मक पारितोषण के लिए नहीं, बल्कि समाज के समक्ष खड़ी चुनौतियों का सामना करने के लिए रचनाकारों को धारदार और दमदार कलम पकड़नी होगी, जो तलवार की तरह आर-पार काट सके। कलमकार को वार करने के लिए न केवल निडर होना होगा, वरन् घाव भी करना होगा। जरूरत पड़ने पर अक्खड़ खोपड़ियों पर प्रहार करने के लिए हथौड़ा भी चलाना होगा। साहित्य के मूल्याँकन का मापदंड पद और पुरस्कार नहीं, बल्कि उसका वैचारिक व सामाजिक संघर्ष होना चाहिए। युग-परिवर्तन के साथ-साथ सब कुछ बदलता है जो आज के साहित्य में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि सन्नाटों को जब भी सार्थक आवाजें पहनायी जाती हैं तो साहित्य के द्वारा ही फूहड़ता या अपसंस्कृति को नई और सही दिशा साहित्य ने ही दी है। अनेक अवरोधों के कुहासों में भी साहित्य ने अपनी सार्थकता सिद्ध की है। विश्वास है, वर्तमान परिवेश में छाए कुहासों को भी साहित्य अपनी अनेक विधाओं के माध्यम से छाँटने और पाठकों को प्रभावित करने में सफल होगा। उदात्त गुण प्रज्ञा से सृजित जीवन-मूल्यों के मानवीय संवेदन को अभिव्यक्ति प्रदान करेगा, ऐसी मेरी समझ है, क्योंकि साहित्य में शिवत्व का सत्य तो समाहित होता ही है यहाँ साहित्य के सुंदर तत्त्व पर भी विंचार किया जाना चाहिए। वर्तमान परिवेश पर नजर डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि पूरी व्यवस्था इस प्रकार बिगड़ती जा रही है कि जैसे ही अच्छे अथवा श्रेष्ठ विचार ताकतवर बनने का प्रयास करते हैं वह अपनी अच्छाई खोने लगता है, लेकिन इंसान ने कभी यह स्वप्न देखना नहीं छोड़ा, क्योंकि इसमें उसे सामूहिक बेहतरी की राह नजर आती है। यही कारण है कि साहित्य ने सदैव नक्कारखाने में अपनी तूती बजाई, क्योंकि ये ही वे जगहें हैं जहाँ मनुष्य के सपने सर्वाधिक कल्पनाशीलता और दृढ़ता से दर्ज होते रहे हैं, वहीं उन्हें शब्द, रंग और वाणी मिलती है।

सच कहा जाए तो जब साहित्य के द्वारा श्रेष्ठ विचार दिए जाते हैं तो उसे ताकतवर बनाने का उत्तरदायित्व फिर देश के सजग नागरिकों एवं आम जनता तथा राजनीतिक दलों का है, जो उस विचार का वाहक होना चाहता है। अच्छे-से-अच्छे विचार भी कागज पर तो एक शब्द-समूह ही है। उन्हें सक्रिय, गतिशील और सफल बनाने का काम करना पड़ता है अन्यथा सबसे अच्छा विचार भी क्रियान्वयन की गलतियों के चलते 'सबसे कमजोर' सिद्ध हो सकता है। कुछ इन्हीं विचारों का समावेश कर साहित्य पर एक दृष्टि डाली गयो है।

वर्तमान भारत का जन्म अँग्रेजी-शिक्षा-पद्धति की गोद में हुआ। इसके चलते वैयक्तिकता का विष, जो भारत में बहुत दिनों से चला आ रहा था, समकालीन परिवेश में और भी बढ़ गया जिसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि समाज और देश के प्रति हमारा जो कर्त्तव्य है, इस बात को हम बिल्कुल ही भूल बैठे हैं और साथ ही जनता अशिक्षा और अँधविश्वास की जकड़बंदी से मुक्त नहीं हो पा रही है, कारण कि वर्तमान शिक्षा से जनता के भीतर प्रगतिशील एवं नैतिक विचारों को प्रेरित करने की कोशिश नहीं के बराबर हो रही है। सामाजिक गतिशीलता के अभाव में सामाजिक-आर्थिक विकास को हासिल करना संभव नहीं हो पा रहा है। केवल शिक्षा की ओट में दुकानदारी चलाकर समाज में विसंगतियाँ उत्पन्न की जा रही हैं। दुनिया तेजी से बदल रही है। जाहिर है, जिंदगी के तमाम क्षेत्र भी उसी तेजी से बदल रहे हैं। लाजिमी तौर पर शिक्षा का स्वरूप भी बदला है। परंपरागत शिक्षा या तो अप्रासंगिक हो गई है या फिर औपचारिक। ज्ञान-विज्ञान, अनुसंधान, जिज्ञासा और जरूरतों के निरंतर विस्तार में शिक्षा, शिक्षक और शिष्य के रिश्ते को नए सिरे से देखने-समझने की अपरिहार्यता आ पड़ी है, खासकर तब, जब कंप्यूटर, सेटेलाइट, टेलीविजन, इंटरनेट आदि शिक्षा के नए माध्यम और नई तकनीक हमसे मुखातिब और मुकाबिल है। शिक्षा के इन्हीं सब बिंदुओं को समेटने का हमारा प्रयास रहा है इस पुस्तक के शिक्षा-खंड में।

आधुनिक भारत के भौगोलिक क्षेत्र में कई विचारधाराओं, धर्मों, भाषाओं, रीति-रिवाजों एवं अपनी-अपनी जीवन-शैली में विश्वास करनेवाले इस देश में एक विशिष्ट संस्कृति विकसित हुई; जो धर्म पर नहीं, बल्कि विविधता में एकता, सहृदयता, सभी धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों में समन्वय और सामंजस्य पर आधारित है। समन्वय और सुरुचि का ही तो दूसरा नाम संस्कृति है, किंतु इधर हाल के कुछ वर्षों में अति उपभोक्तावादी पश्चिमी अपसंस्कृति का अँधानुकरण कर उसका दुष्परिणाम समाज के नैतिक पतन के रूप में हम आज भुगत रहे हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि इस अपसंस्कृति को मिटाकर एक स्वस्थ सांस्कृतिक वातावरण गढ़ा जाए, क्योंकि सांस्कृतिक पुष्टता और विशिष्टता किसी भी समाज के लिए उसकी स्वस्थ सामाजिक संरचना का आधार होती है। संस्कृति मनुष्य के अपने अतीत से जुड़ाव का माध्यम होती है; साथ ही, भविष्य की ओर अग्रसारित करनेवाली शक्ति का निर्माण करती है। संस्कृति ही सुदृढ़ भविष्य की नींव बनती है और एक सशक्त भवन के निर्माण में मजबूत नींव की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता। इसलिए समाज की समृद्धि और राष्ट्र को सही मायने में शक्ति-संपन्न बनाने के लिए इस देश के लोगों की नैतिक मूल्य-व्यवस्था को बनाए रखना आज जरूरी है। इस ख्याल से संस्कृति पर विस्तार से चर्चा की गई है इस पुस्तक में।

आज नवसंस्कृतिवाद और पश्चिमवाद दोनों ही समाज के समक्ष जिस प्रकार नए खतरे के रूप में दस्तक दे रहे हैं, भारतीय पत्रकारिता के विश्लेषण-विवेचन के द्वारा ही नवजागरण को सही मायने में समझा-परखा जा सकता है, किंतु आज की पत्रकारिता व मीडिया ने समाज व राजनीति को एक ऐसे खेल की तरह बनाना प्रारंभ कर दिया है, जिसे दो जाति या दो पार्टी अथवा दो नेता खेलते हैं। ऐसा लगता है कि जीवन को निर्णायक ढंग से प्रभावित करनेवाली राजनीतिक प्रक्रिया और उसकी प्राण-चुनाव-प्रक्रिया को मीडिया व पत्रकारिता ने बहुत जल्द सतही मनोरंजन में बदल दिया है। इसमें एक तरह का हल्कापन पैदा हो गया है। क्या ऐसा नहीं प्रतीत होता कि पत्रकारिता अपनी न्यूनतम भूमिका तक को भुला बैठी है। यह नहीं भूलना चाहिए कि इन दिनों समाज व राजनीति को हल्के-फुल्के मनोरंजन में बदलने की कोशिश देश के लिए घातक सिद्ध होगी। मनोरंजन बनाने के बदले गहन और गंभीर मुद्दों की बात श्रेयस्कर होगी। अभी के चुनाव में मानों कोई मुद्दा ही न हो, कम-से-कम अखबार पढ़ने या दूरदर्शन देखने से तो ऐसा ही लगता है। जिस प्रकार आज की राजनीति देश की जनता को बेवकूफ बना रही है, यदि जनतंत्र का चौथा प्रहरी भी वही करने लगे तो देश का क्या होगा, जनता फिर किससे उम्मीद करेगी ? पत्रकारिता से जुड़े कुछ इन्हीं सब सवालों से रू-ब-रू करने की कोशिश इस पुस्तक में की गई है।

धर्म का संबंध आस्था, विश्वास और आचरण से होता है। हर धर्म मनुष्य को जीवन जीने की कला सिखाता है। धर्म, भाषा, जाति, संस्कृति आदि से लोगों को एक सूत्र में बाँधने और आपस में मेल-मिलाप रखने में मदद करता रहा है, किंतु धर्म का जो स्वरूप आज हमारे सामने है वह वस्तुत: समाज और मानवता के विनाश का कारण बनता जा रहा है। धर्म के नाम पर कट्टरता और असहिष्णुता फैलाने का कार्य आज बड़े जोर-शोर से हो रहा है, कारण कि करुणा, सौहार्द, उदारता, समता, बंधुत्व, क्षमा जैसे नैतिक मूल्य आज धर्मनीति से गायब दीखते हैं। संकीर्णता, रूढ़िवादिता, अँधविश्वास, मिथ्या, पाखंड और आडंबर से भरा धर्म आज समाज को अँधगली की ओर ले जा रहा है और समाज के लोग जातीयता और सांप्रदायिकता की ओर ढकेल दिए जा रहे हैं। अनेकता में एकता का सिद्धांत आज गायब होता जा रहा है। दूसरी बात यह है कि आज हमारे सामने वैचारिक संकट अपने असली रूप में सारे नकाब झाड़कर खड़ा है। वैचारिक संकट का सबसे दरिद्र और दयनीय प्रदर्शन धर्म-संप्रदाय के ताबेदारों द्वारा ही किया जाता रहा है। मौलिक चिंतन की अनुपस्थिति और बड़े सामाजिक आंदोलन के न होने के पीछे यही धर्म-प्रभावित संस्कृति है जो भाग्य, भगवान और अवतारों में लौ लगाना सिखाती है। लोग जागरूक न हो जाएँ, इसलिए सारी

विद्या और सारे ज्ञान को इस धर्म-संस्कृतिं ने तिरस्कार कर दिया है। गैर-बराबरी को धर्म के ठेकेदारों ने न सिर्फ अपना विश्वास बनाया है, बल्कि सभी वर्गों व वर्णों में इसके संस्कार भर दिए हैं। फलस्वरूप सामाजिक गतिशीलता को कुचल दिया गया है ताकि समाज पर निरंकुश सत्ता को कायम रखा जा सके। इसलिए आज जरूरत है क्रांतिकारी विचारों को लेकर आगे बढ़ने की और सभी धर्म को समाज द्वारा बदलते समय के अनुसार अपने आपको ढालने की। इसी को ध्यान में रखते हुए धर्म-कर्म पर भी विस्तार से चर्चा की गई है।

भारतीय राजनीति में अंतर्विरोध और विरोधाभास संभवत: स्वतंत्रता के पूर्व और बाद के काल तक रहे हैं, किंतु जिस प्रचंड रूप में वे आज लोकतंत्र के समक्ष चुनौती के रूप में हैं, उस रूप में शायद ही कभी रहे हों। कम-से-कम सैद्धांतिक और नैतिक स्तर पर आज जिस तरह की गिरावट देखने में आ रही है वह भयावह है और वह लोकतंत्र के लिए खतरे का संकेत है। घोषित रूप से मानव-केंद्रीत राजनीति वस्तुत: आज पूर्ण रूप से सत्ता-केंद्रीत हो गई है। राजनीति की अँधी गली से निकलने की छटपटाहट में ही मानवीय अधिकारों का रास्ता खोजा जा सकता है। इस दृष्टि से संघर्ष के अलावा और कोई दूसरा रास्ता नहीं नजर आता है इस समस्या के समाधान के लिए। क्योंकि आज सबसे अहम सवाल है लोकतांत्रिक संसदीय प्रणाली की विश्वसनीयता को बचाए रखने का। कारण कि भारतीय राजनीति ने उसे अपनी चपेट में लेकर इस पद्धति पर ही एक प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया है। भारतीय राजनीति आज ऐसे तमाम लोगों कि शरणगाह बनकर रह गई है जिन्हें वास्तव में देश की राजनीतिक सत्ता से बाहर होना चाहिए था।

वर्तमान भारतीय राजनीति में बहुत से ऐसे लोग हैं, जो अपने मनोवांछित लोलुप स्वार्थ के लिए अपनी अस्मिता और यहाँ तक कि अपने देश, जाति के गौरव को भी गिरवी रखने से बाज नहीं आते। ये दु:ख का सामना करने से घबराते हैं, कुछ भी गलत-सलत ग्रहण करने को तैयार हो जाते हैं और सुख से आलिप्त होकर कुछ भी छोड़ बैठते हैं। समकालीन राजनीति के इस यथार्थ का बोध कराते वक्त यह प्रयास किया गया है कि राजनीति की विकृतियों का दो-टूक परिचय दिया जाए। मैंने अपने भीतर न केवल राजनीति को संजोया है, बल्कि अपने अदम्य साहस से उसकी नयी सर्जना और उसके परिष्कार की बात भी की है।

कोशिश यह की गयी है कि भारतीय राजनीति के वर्तमान परिदृश्य पर इस पुस्तक में एक जीवंत टिप्पणी प्रस्तुत की जाय ताकि जनता को जागरूक करने के लिए इसे बहस का एक मुद्दा बनाया जा सके।

समकालीन साहित्य, संस्कृति पत्रकारिता, धर्म, राजनीति तथा शिक्षा के संबंध में जो भी विषमय विकृति हमने बोई वहीं बहाना बनी है इन विषयों के तथ्यों को एकत्रित करने में। इन विषयों में जो भी विकृतियाँ आई हैं उस मर्ज की दवा जनता की चेतना ही है। जनता की नैतिकता ही रोग का सही उपचार है। केवल पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति तथा राजनीतिक पार्टियों को कोसने से निदान नहीं निकलने वाला है। उसके लिए हम सबको आत्म-विश्लेषण करना होगा, चाहे हम अध्यापन, समाज-सेवा, लेखन, धर्म, पत्रकारिता और साहित्य-संस्कृति जैसे पावन उपक्रम में ही क्यों न लगे हों। पत्रकारिता तथा साहित्य से जुड़े होने के कारण यों तो संबंधित विषयों की विषमय विकृतियों को बड़ी सावधानी और अधिक बारीकी से उघाड़ने का मेरा प्रयास रहा है, फिर भी समकालीन यथार्थ को व्यक्त करने के क्रम में हो सकता है सच्चाई के कुछ तथ्य पाठक को असुविधाजनक लगे पर इस दोष से मैं कैसे मुक्त होऊँ यह तो पाठक और आलोचक ही बता सकते हैं।

इंदौर से प्रकाशित हिंदी मासिक 'वीणा' के यशस्वी संपादक साहित्य-वाचस्पति डॉ० श्याम सुंदर व्यास के मतानुसार जब पारखी आँख की कसौटी पर जो कुछ परखा जाता है, वह सौटंच सत्य बनकर सामने आता है। इसे ही दृष्टिवंत दृष्टि की पकड़ कहते हैं। इस दृष्टिकोण से साहित्य, संस्कृति, धर्म, पत्रकारिता, राजनीति तथा शिक्षा के यथार्थ को मैंने भी अपनी आँखों की कसौटी पर परखने का प्रयास किया है। विश्वास है, यह भी सौटंच सत्य बनकर आपके सामने दिखेगा, क्योंकि हमने अँधेरे को चीरकर उसमें छिपी सच्चाई को सरेआम उजागर करने की कोशिश की है और उसके अनेकानेक रहस्यों की परतों को उघाड़ा है जिसमें उजले चेहरों की कालिख, जनसेवा की रामनामी में ढँकी स्वार्थी दानवता, राजनीति के चकलों की बेवफाई, भ्रष्ट चापलूस-चालाक प्रशासन की सड़ाँध भरी साठ-गाँठ और सफेदपोशों के आपराधिक कृत्य भी शामिल हैं। मुझे मालूम है कि यह खतरनाक प्रक्रिया है, फिर भी खतरों से जूझने का मैंने साहस बटोरा है, अन्यथा ऐसी बेबाक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

वस्तुत: तकलीफदेह वर्तमान से मुक्ति के लिए आज राजनीतिक सांगठनिक या सामूहिक प्रतिरोध नहीं हो पा रहा है। मोहभंग के इस दौर में मनुष्य के पास वे औजार नहीं रह गए हैं जिसके जरिए वह वर्तमान की चुनौती का सामना कर सके। वर्तमान की तकलीफ और यातना से लड़ने के लिए जो औजार मनुष्य को चाहिए वह समाज में दिखाई नहीं पड़ते। ऐसी घड़ी में समाज का लेखक वर्ग ही आगे आ सकता है। वही वर्तमान के बीहड़, भयानक और क्रूर के यथार्थ को अपने लेखन में समेट सकता है। कुछ इसी ख्याल से अपने कर्त्तव्य-बोध को

समझते हुए, समकालीन यथार्थ-बोध को आप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का हमने प्रयास किया है। आप पाठक ही बता सकते हैं कि यथार्थ को रखने में हम कहाँ तक समर्थ हो पाए हैं।

हम आभारी हैं विदिशा निवासी सुप्रसिद्ध गीतकार भाई जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, प्रो॰ लखन लाल सिंह 'आरोही', प्रो॰ साधुशरण तथा पटना के युगल किशोर प्रसाद के जिन्होंने इस पुस्तक पर अपने अभिमत लिखकर हमें प्रोत्साहित किया है। कृतज्ञ हूँ मैं उन सभी लेखकों का, जिनकी रचनाओं का उल्लेख इस पुस्तक में किया गया है। आभारी हूँ सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ॰ नवल किशोर प्रसाद श्रीवास्तव जी का जिनके सुझावों तथा अभिमत से इस कृति में संश्लिष्टता, सुघरता, प्रभान्विति और प्राणवत्ता आ गयी है। डॉ॰ नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम' ने सहज भाव से इसकी शुभाशंसा लिखकर हमारा मनोबल बढ़ाया है। हम कृतज्ञ हैं उनके। प्रो॰ कुमार रवीन्द्र ने इसकी भूमिका लिखकर इसकी सार्थकता सिद्ध की है, मैं इनके प्रति विनम्र भाव से कृतज्ञ हूँ।

सिद्धेश्वर
'दृष्टि' यू॰ 207,
शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली- 92
दूरभाष : 011-22530652

●

अभिमत

बहुत कुछ खनकता है लेखक के हृदय की धड़कनों में

'विचार दृष्टि के यशस्वी संपादक एवं सुलझे साहित्यकार श्री सिद्धेश्वर जी की पुस्तक 'समकालीन यथार्थ बोध' में उनकी सूझ-बूझ, विस्तृत ज्ञान व साहित्य, संस्कृति, धर्म, शिक्षा, पत्रकारिता तथा भारतीय राजनीति से जुड़े महत्त्वपूर्ण तथ्यों की समकालीन झलक मिलती है। पुस्तक में वर्णित तथ्यों से इनके अद्‌भुत्‌ ज्ञान का एहसास इसलिये होता है कि आपने हृदय और जुनून से संदर्भित विषयों पर कार्य किया है। इनमें चीजों को आत्मसात कर लेने की अद्‌भुत्‌ क्षमता है। इनका जीवन और रचनाएँ समाज के मूक और हाशिए पर पड़े लोगों की अनुभूति को प्रतिबिंबित करती चलती हैं। दरअसल इनके रास्ते, चाहे वे विचार के स्तर पर हों या यथार्थ के भौतिक धरातल पर, लोगों को आकर्षित करते हैं। ये यायावर हैं और इनकी खोज-यात्रा प्रेम और विविधता में आनंद पाने की सीधी अभिव्यक्ति है। इनके मनोभाव की परोक्ष अभिव्यक्ति प्रस्तुत कृति में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

यदि हम यह कहें कि इस पुस्तक के लेखक को संवाद के व्यक्ति के रूप में पहचाना जाता है तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी, क्योंकि ये पाशविक शक्ति की अपेक्षा सामाजिक व साहित्यिक शक्ति को प्रोत्साहित करते हैं और इसकी समकालीन गतिविधियों को अपने लेखन एवं संगोष्ठियों के जरिए दूसरों तक पहुँचाते हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि केंद्रीय सरकारी सेवा की समाप्ति के पूर्व ही स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति लेकर अपना शेष जीवन सार्वजनिक रूप से जीने तथा समाज व राष्ट्र के लिए व्यापक एवं वृहत्तर हित में बिताने को उन्होंने उचित समझा और भविष्य में स्वस्थ समाज एवं सबल राष्ट्र की स्थापना के लिए अपने शेष जीवन के समय के महत्त्व को पहचाना और आज ये जिस प्रकार अपने लेखन व अहिंसक शक्तियों को विकसित एवं प्रोत्साहित करने हेतु वैचारिक क्रांति की दिशा में पहल कर रहे हैं उसे इनकी दैनन्दिनी में देखा जा सकता है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि इनके क्रियाकलाप ने यहाँ तक कि अनुत्साही व्यक्तियों, निराश लेखकों तथा शिक्षाविदों को प्रभावित किया है। ये एक आदर्शवादी होने से दूर रहे, फिर भी इनमें यथार्थवाद, साधारण समझ और कल्पना सर्वोच्च रूप से कूट-कूटकर भरे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में जिन विषयों के समकालीन यथार्थ को इन्होंने चित्रित किया है उसे पढ़ने से ऐसा प्रतीत

होता है कि इनमें मानवीय मूल्यों की जीवंत शक्ति मौजूद है और इनकी कल्पना मात्र विचारों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह दीर्घ और गंभीर ध्यान देने योग्य निष्कर्ष हैं। भारतीय राजनीति के समकालीन यथार्थ को इन्होंने जिस प्रकार रेखांकित किया है उससे ऐसा लगता है कि इनके हृदय की धड़कनों में बहुत कुछ खनकता है जो एक अग्रणी व्यक्तित्व के लिए अच्छी बात है। भारतीय राजनीति की दुर्बलता, उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार, अपारदर्शिता और राजनेताओं की स्वार्थ-लोलुपता को प्रस्तुत करने में इन्होंने अपनी धारदार कलम का परिचय दिया है। ये कहते हैं-

''आजादी के पश्चात् लगातार स्खलन की दिशा में बढ़ रही भारतीय राजनीति का चेहरा बीमार राजनेताओं की वजह से दुनिया भर में स्याह हुआ है। आज भारतीय राजनीति की स्थिति यह हो गयी है कि सांसद या विधायक अथवा सत्ता की कुर्सी पर बैठने वाले किसी भी नेता में जनता के पैसे को लूटने की प्रवृत्ति आ जाती है, जिसे जितना लूट सको लूट लो। न जाने कब पाँच वर्षों का छोटा-सा समय पार कर जाए।''

यह कृति हिंदी साहित्य में युगांतरकारी मानी जाएगी, न केवल प्रामाणिकता और विस्तृत विवरण के लिए, बल्कि इसलिए कि इसमें कृतिकार ने तथ्यों का उपयोग ठीक उसी तरह किया है, जिस तरह एक नाविक अपने दिशासूचक यंत्र का उपयोग करता है ताकि उसके माध्यम से वह उस महत्त्वपूर्ण समकालीन यथार्थ तक पहुँच सके, जिधर यंत्र की सुई इशारा करती है। इस कृति में वर्णित तथ्यों की सूक्ष्मता सिद्धेश्वर जी के लेखन की खास खूबी है और जब इसका उपयोग ये खोजपूर्ण तरीके से करते हैं तो यह सामाजिक, साहित्यिक आलोचना का कारगर हथियार बन जाता है। विनम्रता इनमें इतनी है कि ये बराबर कहा करते हैं कि यदि इन्हें यह चुनाव करना हो कि ये एक अच्छा राजनेता बनना पसंद करेंगे या एक अच्छा लेखक तो इनका चुनाव निश्चित ही अच्छे लेखक के लिए होगा। सौभाग्य से एक लेखक के रूप में इनका स्थान इस तरह सुरक्षित है कि इस चुनाव की कभी जरूरत नहीं पड़ेगी वैसे राजनीति में भी इनकी पकड़ प्रशंसनीय मानी जाती है।

सिद्धेश्वर जी वस्तुतः एक लेखक और विचारक हैं। इनकी लेखन शैली तथा इनके शब्दों से कोई भी इंसान प्रेरित हो सकता है, क्योंकि ये न केवल साहित्य, संस्कृति और पत्रकारिता की प्रतिष्ठा के प्रति आकर्षित हैं, बल्कि कलम की ताकत को ये समझते हैं। यही कारण है कि प्रतिबिंबों एवं प्रतिवादों की शुद्ध ध्वनि के साथ इनकी लेखनी पाठकों पर एक सीमित छाप छोड़ती है। इसीलिए इन्होंने श्रेष्ठ साहित्य की रचना की। जिसे लोग स्पष्ट, सटीक और

महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इनकी सोच उतनी ही स्पष्ट, जीवंत एवं द्रुतगामी हैं जितनी कि इनकी कल्पना जिसमें कौशल एवं सटीक निशानेवाले कटाक्ष करने का गुण भी मौजूद है। देखें इनकी कुछ पंक्तियों को जिसे इन्होंने खंड-3 में संस्कृति विषय पर अभिव्यक्त की है-

''हमारी संस्कृति का यूँ ही पाश्चात्यीकरण जारी रहा तो 'बिन फेरे हम तेरे' जीवन शैलीवाला सहज बँधन मुक्त रिश्ता भारतीय संस्कृति के लिए एक खतरनाक संकेत होगा।''

यह पुस्तक लेखक, संपादक और संगठनकर्त्ता सिद्धेश्वर जी के महत्त्वपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक योगदान पर केंद्रीत है जो एक प्रतिबद्ध सामाजिक आंदोलन के बारे में विचार करने का महत्त्वपूर्ण संदर्भ उपलब्ध कराती है। लेखक ने अपने जीवन में जो कुछ भी अनुभव प्राप्त किया है, जागते रहने के लिए जो भी जद्दोजहद उन्होंने की, उन सबको पूरी ईमानदारी और टटकेपन के साथ इस संग्रह की रचनाओं में दर्ज करने की कोशिश की गई है। सच कहा जाए तो एक भावुक एवं संवेदनशील रचनाकार की खरी-खरी बेचैनियों और घायल तन्हाइयों के बीच से आकार लेती शब्दाकृतियों का यह एक ऐसा कैनवस है जो सहसा पाठक को विचलित कर देता है। यह एक ऐसा आख्यान है जो जिंदगी के यथार्थ में दूर तक जाने का प्रयास करता है, सतह पर ही नहीं ढहा जाता।

सिद्धेश्वर जी की यह 'समकालीन यथार्थबोध' कृति सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक परिवेश के समक्ष खड़ी चुनौतियों का सामना करने तथा परिवर्तन की भूमिका अदा करने के अपने उत्तरदायित्व निभाने में मार्ग प्रशस्त करती है। सांस्कृतिक पुष्टता और विशिष्टता किसी भी समाज के लिए उसकी स्वस्थ सामाजिक संरचना का आधार होती है। संस्कृति ही सुदृढ़ भविष्य की नींव बनती है। करुणा, सौहार्द, उदारता, समता जैसे बदलते मूल्य पर कृतिकार की दृष्टि व चिंतन समाज में नई सोच के धरातल पर अपनी भूमिका का निर्वाह करने में सक्षम है। इसमें कतई संदेह नहीं कि ज्ञान और चिंतन के धरातल पर एक औसत पाठक से लेकर प्रबुद्ध पाठकों तक की चेतना को जाग्रत करने में सिद्धेश्वर जी की यह रचना सार्थक सिद्ध होगी, क्योंकि पुस्तक के विभिन्न निबंधों में व्यक्त उनकी अनुभूतियों के स्वर से युवा एवं भावी पीढ़ियों के साथ-साथ आज के आत्मकेंद्रीत एवं हतोत्साहित लोगों को निश्चित रूप से एक रोशनी और दिशा मिलेगी। वक्त का तकाजा है कि युवाओं में अच्छे विचार पिरोए जाएँ, क्योंकि विचार ही स्वप्नों की मूर्त छवि होते हैं, विचारों से ही कर्म पैदा होते हैं और कर्म से निर्माण होता है।

आधुनिक जीवन की विभीषिका यह है कि यहाँ के हर क्षेत्र में अनेक प्रकार की मुश्किलों, परेशानियों और जीवन की त्रासदियों से हम पीड़ित हैं। सिद्धेश्वर जी एक सृजनशील लेखक होने के नाते उन्होंने अपना यह दायित्व समझा है कि वे ऐसे साहित्य का सृजन करें जो पाठकों को इन त्रासदियों से मुक्ति दिलाए। एक लेखक की समाज के प्रति यही भूमिका होती है। इस कृति के लेखक ने इस भूमिका का पूरी तरह निर्वहन किया है। जीवन पथ से भटका हुआ मुशाफिर एक छोटे से दीये की रोशनी के आलोक से सही पथ पाकर मंजिल तक पहुँच जाता है। 'समकालीन यथार्थ-बोध' एक ऐसा ही दीपक है जिसकी रोशनी में कोई भी भटका हुआ राही सही पथ की ओर अग्रसर हो सकता है। इसे पढ़कर पाठक के अंदर का बँधन टूटेगा या शिथिल हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। सिद्धेश्वर जी का साहित्य जगत में यह अवदान नैतिक मूल्यों की स्थापना तथा निष्ठा-सेवा की विकासशील परंपरा का प्रकाश स्तंभ है। यह ग्रंथ लेखक के गहन अध्ययन, सशक्त अभिव्यंजना और लोकमंगल की सात्विक भावना का पारदर्शी प्रकल्प है। छह खंडों में विभक्त विभिन्न विषयों को लेखक ने बड़ी कुशलता के साथ प्रवाहमयी शैली में रोचक-वर्णन एवं कल्पना प्रसूत ज्ञानवर्द्धक तथ्यों से विकसित किया है, जो वर्तमान युग के लिए सर्वथा प्रासंगिक बन गया है। वर्तमान के अनेक प्रश्नों का समुचित उत्तर और समस्याओं का निवारण प्रस्तुत कर लेखक ने यह साबित कर दिया है कि साहित्य मंगल कामना है। इनकी धारदार कलम अनवरत रूप से चलती रहे ताकि हिंदी साहित्य और समृद्ध हो सके। विश्वास है साहित्य जगत में इस कृति का समादर होगा।

जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
कवि एवं साहित्यकार
विदिशा, म०प्र०

●

प्रबोधन से मुक्त लेखक एक नए उत्साह से प्रेरित

दुनिया में बहुत से लोग ऐसे हुए हैं, जिन्होंने इंसानियत को सच्चे अर्थों में जीया है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक सिद्धेश्वर जी को ऐसे लोगों के जीवन-चरित्र प्रभावित किए हैं और उस प्रभाव को बाकी लोगों तक बाँटने की इनकी प्रबल इच्छा के चलते ही इन्होंने यह महसूस किया कि देश के बड़े जनमानस तक पहुँचने के लिए साहित्य भी एक महत्त्वपूर्ण जरिया है। यहीं से इन्हें साहित्य की दुनिया में सक्रिय रूप से कार्य करने की प्रेरणा मिली। वैसे भी सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में इन्होंने अपने जीवन में जो कुछ भी करने की कोशिश की, उसमें समाज व आम आदमी की छटपटाहट को उभारने की कसक इनके अंदर हमेशा देखी गई। यही कारण है कि अपने कालखंड में अपना नैतिक व राष्ट्रीय दायित्व समझते हुए साहित्य के माध्यम से ये अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान समाज को प्रदान करने के लिए अग्रसर हुए। सिद्धेश्वर जी की प्रस्तुत पुस्तक इनके उसी सोच का प्रतिफल है जिसमें समय की समस्याओं पर इन्होंने अपनी प्रतिभा स्थापित करते हुए न केवल पाठकों के बीच अपनी गरिमा का निर्माण करने का प्रयास किया है, बल्कि अच्छे विचारों को प्रोत्साहित करने में भी ये समर्थ हुए हैं। स्वयं को जागृत करते हुए एवं अच्छे साहित्कारों से सीखते हुए इन्होंने व्यक्ति, रीति तथा समस्याओं के समाधान में अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है।

इस कृति में इन्होंने नैतिक शिक्षा के साथ जुड़े हुए भोग-विलास से युक्त एक स्वप्न की तरह अपने भावों को अभिव्यक्त किया है। इनके लेखन, मनन और व्यवहार में एक नए समाज, एक नए देश और एक नई संस्कृति के निर्माण की बेचैनी है। लेखक की मान्यता है कि एक इंसान केवल एक इंसान है। उसकी योग्यताएँ कुछ नहीं हैं अगर हालात और जनमत उसके पक्ष में नहीं है। इस संदर्भ में अगर एक लेखक की परिभाषा दी जाए तो वह पहले एक विचारक होता है। सिद्धेश्वर जी की रचनाएँ और वार्तालाप हमारे सामने उनकी एक असाधारण और सौम्य व्यक्तित्व की छवि प्रस्तुत करते हैं जो अपने समय से आगे निकले हुए एक नए उत्साह से प्रेरित है। ये प्रबोधन से युक्त व्यक्ति हैं जिनका ध्यान सदैव समाज के आम आदमी और राष्ट्र की तरफ लगा रहता है। इन्होंने सामाजिक अन्याय की बुराइयों का तथा अवसर की असमानता के परिणामों को महसूस किया है। यही कारण है कि मानवतावादी दृष्टिकोण और राष्ट्र प्रेम इनके साहित्य का मूल स्रोत रहा है। ये व्यक्ति की दुर्बलताओं, दोषों या अवगुणों से द्वेष नहीं कर उसमें, मानसिक परिवर्तन के पक्षधर हैं। आखिर तभी तो साहित्य खण्ड में ये कहते हैं:-

''साहित्य जीवन को सँवारने का एक संस्कार प्रदान करता है। सामाजिक जीवन में प्रेम, दया, ममता, करुणा जैसे मूल्यों का बहुत महत्त्व है। साहित्य में इसलिए इनकी पूर्ण प्रतिष्ठा की आवश्यकता है और सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन को विघटन से बचाने के लिए यह आवश्यक है।''

कलम पुरुषार्थ का प्रतीक भी है और स्वावलंबन का बिंब भी। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक पुरुषार्थ और स्वावलंबन के मूर्तरूप में उपस्थित हैं। इंसान के प्रति सीमाहीन प्यार, आम आदमी के प्रति गहरी ममता-बोध ने इनके अंदर एक संवेदनशील मन तैयार किया है, उसी संवेदनशीलता ने इनकी कलम की भाषा जुटाई है। इस दृष्टि से देखा जाए तो सिद्धेश्वर जी संवेदंना के कलाकार हैं कलात्मक सौष्ठव नहीं। इनकी भाषा में यथार्थ गुणों का समावेश हुआ है। उसमें प्रवाह, ओज, अर्थवत्ता तथा गरिमा के साथ-साथ सरलता भी है। इस प्रकार इन्होंने युग की माँग को आत्मसात कर इस पुस्तक में विभक्त छह खंडों के विषयों में आधुनिकता का समावेश किया है, किंतु आधुनिकता भारतीय है पश्चिमी नहीं। यही कारण है कि इनके कथ्य व तथ्य कुंठा एवं घुटन से युक्त नही, अपितु पाठक को एक स्वस्थ सामाजिक दिशा प्रदान करते हैं।

यह कहना यथोचित होगा कि निरंतर घुमक्कड़ी और अनवरत रूप से लेखन-दोनों सिद्धेश्वर जी के श्वास-प्रश्वास रहे हैं। लेखन इनके लिए रक्त देकर चलनेवाली जीवन की साधना रहा है, सिद्धेश्वर जी हर प्रकार की रूढ़ि और जड़ता के खिलाफ दिखते हैं, क्योंकि रूढ़ि और जड़ता प्रगति के मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा है, जीवन में नैतिकता-अनैतिकता को आमतौर पर ये खारिज नहीं करते, किंतु इनकी मान्यता है कि नैतिकता-अनैतिकता के प्रश्न से ऊपर उठकर व्यक्ति सहज भाव से जीवन जीने का प्रयत्न करे। आखिर तभी तो सिद्धेश्वर जी अपना जेहन खुले दरवाजे की तरह खुला रखते हैं। ऐसे ही व्यक्तित्व के लिए किसी शायर ने यह शेर कहा है :-

बंद कमरे में कोई बैठ के कुछ भी सोचे
मैं खुले दर की तरह जेहन खुला रखता हूँ।

लेखक के प्रस्तुत लेखन से उनके आत्मविश्वास का आभास मिलता है। जो कुछ भी ये लिखते हैं बड़े आत्मविश्वास से लिखते हैं। सचमुच आत्मविश्वास में बड़ी शक्ति होती है। जिसने भी इस सत्य को समझकर अपने जीवन में उतार लिया वह किसी भी मंजिल को अपने आत्मविश्वास के बल पर हासिल कर सकता है, सिद्धेश्वर जी को आत्मविश्वास के सहारे निराशा में भी आशा की झलक दिखाई देती है, दुख में भी सुख का आभास होता है, क्योंकि इन्हें अपने ऊपर भरोसा है। यही कारण है कि लेखन के क्षेत्र में कलम रूपी इनकी नाव

कभी नहीं डगमगाती। इनके चिंतन को आत्मविश्वास ही बल प्रदान करता है। आत्मविश्वास के चलते ही इनके अंदर के श्रेष्ठ विचार महत्त्वपूर्ण कार्य के रूप में परिणत हो जाते हैं। इन तथ्यों के आलोक में हम कह सकते हैं कि सिद्धेश्वर जी का लेखकीय जीवन प्रेरणादायी है और इनका मार्ग व्यवहार का मार्ग है, समाज-साहित्य के लेखन में दो बातें होती हैं, एक तो सृजन और दूसरा उसका मंथन। लेखक सृजन करता है और मंथन करने-निकालने के लिए दूध का आलोचन-विलोचन करना पड़ता है उसी प्रकार साहित्य के तथ्यों को वही खोज सकता है, जो उसमें अवगाहन करता है। दूध का मंथन करने वाले का श्रम लगता है, पर मक्खन का उपयोग दूसरे लोग भी करते हैं। 'समकालीन यथार्थ-बोध' के लेखक ने साहित्य के अवगाहन का विविध खंडों में साहित्य, संस्कृति, शिक्षा, धर्म, पत्रकारिता तथा भारतीय राजनीति जैसे विषयों का संकलन कर उन पर दो-टूक एवं सटीक विश्लेषण किया है जो बहुत लोगों के लिए पठनीय बन गया है। निश्चित रूप से वर्णित विषयों में अभिरुचि रखने वाले तथा शोधरुचि रखने वाले लोगों के लिए ऐसी सामग्री काफी उपयोगी साबित होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।, अनुभव से अदभुत् सिद्धेश्वर जी के विचार सार्वकालिक और शाश्वत मूल्यवाले बन गए हैं जिनसे लोगों को प्रेरणा तो मिलेगी ही जागरण का संदेश भी मिलेगा। साथ ही पुस्तक में संकलित सामग्रियों से जनता में स्वंतत्र चेतना की अनुभूति भी होगी। मुझे लगता है कि लेखक द्वारा अभिव्यक्त एक भी विचार, समाज, साहित्य, धर्म, पत्रकारिता तथा राजनीति के क्षेत्र में रहने वाले लोगों के अंतःकरण को छू जाए तो उनकी जीवन धारा बदल सकती है। इन सामग्रियों में एक ओर जहाँ यथार्थ है, वहीं दूसरी ओर व्यवहार जगत में समस्याओं के समाधान भी हैं जिसकी गंभीरता को समझने से जीवन का पथ प्रशस्त हो सकता है।

सिद्धेश्वर जी ने साहित्य, संस्कृति, धर्म, पत्रकारिता तथा राजनीति जैसे विषयों का अवगाहन कर उनमें सम्मिलित अनमोल रत्नों को चुनने का एक साथ प्रयास किया है, उनकी स्वाध्यशीलता, अध्यवसाय और दृढ़ संकल्प की निष्पत्ति है 'समकालीन यथार्थ-बोध' जिसका साहित्य जगत में स्वागत होगा।

लेखक सिद्धेश्वर जी के साहित्य में वह सब कुछ है जो साहित्यकार के चरित्र, व्यक्तित्व और कृतित्व से निसृत होकर सामने आया है जिसे पाठक न केवल पंसद करेगें, बल्कि उद्वेलित और तरंगित भी होंगे। वे एक आयाम पाने में सफल होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। लेखक के साहित्यिक आलेख से गुजरने के बाद मुझे वह बहुत कुछ प्राप्त हुआ जो एक सच्चा साहित्यकार अपने अनुभवों को जीवन और जन साधारण से लेकर पूरे मानव समाज को शब्दों की माला

बनाकर उसे सार्वजनिक बना देता है। वस्तुत: एक विश्वास फलक को आँखों की जमीन पर संवेदना के हाथों परोसना ही साहित्य की वास्तविक धारा है। इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो सिद्धेश्वर जी के विचार बहुत गहरे आयाम को प्रकट करते हैं। भारतीय पत्रकारिता के बारे में इन्होंने ठीक ही कहा है कि यहाँ मुद्दे तो जोर-शोर से उठाए जाते हैं या उन्हें तर्कसंगत परिणति तक अमूमन नहीं ले जाया जाता है। भारतीय मीडिया मुद्दे को फॉलो-अप नहीं करती जिसके कारण बहुत से गंभीर मुद्दे नेपथ्य में चले जाते हैं। भारतीय मीडिया स्वंतत्र तो है, लेकिन उतना जिम्मेदार नहीं जितना होना चाहिए।

अपनी उम्र के छियाछठवें पड़ाव पर सिद्धेश्वर का यह ग्रंथ 'समकालीन यथार्थ-बोध' बहुत सार्थक बन पड़ा है और किसी लेखक की गुणवत्ता भी तो उसकी सार्थकता में ही है। रचनाएँ सच की संवाहिका हैं, जो बहुत ही सारगर्भित है। इन्होंने इस ग्रंथ के विभिन्न विषयों के माध्यम से कुछ जरूरी बातें उठायी हैं जिन पर साहित्य जगत को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। यह ग्रंथ इसलिए भी जरूरी है कि अपने समकालीन यथार्थ को जाना जा सके और जानने के साथ जीया जा सके। लेखक को हार्दिक साधुवाद।

प्रो० (डॉ०) लखनलाल सिंह 'आरोही'
पूर्व हिंदी प्राध्यापक, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय
'ऋतंभरा', ग्राम-खैरा, पत्रा०-पतसौरीखैरा, जिला-बाँका.

●

विचारों का अथाह-अपार ज्ञानसागर और सर्वजन संप्रेषणीय

पौराणिक धर्म ग्रंथों और प्राचीन साहित्य में जितने भी चरित्र-निर्माण एवं वैचारिक शुद्धता की बातें की गई हैं, वे सब के सब आज पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति के अँधानुकरण में लोगों के दिलो-दिमाग से तिरोहित होते जा रहे हैं। लोगों की सोच में खोट और उनके विचारों में कुप्रवत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। सामान्य जन उन्हें विस्मृत कर चुके हैं। इसलिए आज लोगों की सोच में बदलाव और विचारों को परिष्कृत करने की आवश्यकता आ पड़ी है। इसकी आज जितनी प्रासंगिकता है, उतनी शायद पहले कभी नहीं रही होगी। आज आवश्यकता इस बात की है कि जन-साधारण के लिए ऐसे सत्साहित्य एवं विचार उपलब्ध कराए जाएँ जिससे सभी व्यक्ति लाभान्वित हो सकें।

छह खंडों में विभक्त सिद्धेश्वर जी का यह ग्रंथ-'समकालीन यथार्थ-बोध' विभिन्न विषयों पर उनके द्वारा व्यक्त विचारों का अथाह ज्ञान-सागर है, जो प्रासंगिक, सार्थक, साभिप्राय और सर्वजन-संप्रेषणीय है। विचारों के संकलन का श्रम-साध्य प्रयास स्तुत्य तो है ही, स्थायी महत्त्व का भी है। यह ग्रंथ मात्र पढ़ने और मनोरंजन का विषय न होकर मननीय, विचारणीय, संग्रहणीय और दैनन्दिन जीवन में कदम-कदम पर हमारा मार्ग-दर्शन करने वाला है। इस कृति के एक-एक शब्द और पंक्ति-पंक्ति में पथ-प्रदर्शक का विचार मिलेगा और जीवन के कंटकाकीर्ण रास्ते पर होकर अग्रसर होने का संबल प्राप्त होगा।

आज लोग भोग, विलास, ऐश्वर्य, सुख-साधन और भौतिक संसाधनों के संग्रह में जिस प्रकार लिप्त होते जा रहे हैं उससे समाज में विकृति आना स्वाभाविक है। आत्म-दुर्बलता और विचारों की विकृतियों से ग्रस्त व्यक्ति को विवेक की आवश्यकता है। इस कृति के लेखक ने सुविचारित यथार्थ उपलब्ध कराकर हमारे लिए चिंतन और मनन का साधन सुलभ कराया है। इनके गूढ़-गंभीर विचार में ऐसे जीवनादर्श भरे पड़े हैं जिनसे दैनन्दिन जीवन के क्लेश, कष्ट, यातना, पीड़ा, संत्रास को बिल्कुल मिटाया तो नहीं जा सकता, पर उसे कम अवश्य किया जा सकता है। लेखक ने एक अति महत्त्वपूर्ण कार्य करके असंख्य पाठकों का कल्याण किया है जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। देश, काल और जाति की सीमाओं से परे होकर ये विचार जब फैलेंगे तो अपनी शुचिता और कल्याण-प्रद प्रेरणा से समाज को सत्पथ पर ले जाने में सुविधा होगी। हम भटकन की अँधी गली से निकल कर शांति और संतोष के वटवृक्ष

की छाया में आ सकेंगे। यह विचारों का एक अनुपम संग्रह है, इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं। लेखक के विविध चिंतनपरक विचारों का यह अनूठा संग्रह साहित्य-संसार के लिए अभूतपूर्व उपलब्धि है, ऐसा मेरा मानना है, वैसे वास्तविक निर्णय तो पाठक और आलोचक ही कर पाएँगे।

यह अतिप्रसन्नता की बात है कि सिद्धेश्वर जी की बहुविध सेवाओं में उनकी साहित्यिक सेवाएँ भी बहुमूल्य हैं। यह कृति अपनी यात्रा में अनेक विद्वानों, चिंतकों और विचारकों के हाथों से गुजरेगी और आगे उनकी प्रतिक्रियाओं से हम अवगत होंगे, ऐसी उम्मीद की जाती है। सहज, सरल भाषा में निवद्ध यह साहित्य व्यक्ति की सुप्त चेतना को झंकृत करने में समर्थ है और व्यक्ति को आदर्श जीवन-मूल्यों की ओर प्रवृत्त करनेवाला भी। पाठक लेखक के विचारों के माध्यम से उन्हें कहीं साहित्यकार के रूप में पढ़ेंगे, कहीं धार्मिक नेता के रूप में, कहीं विलक्षण राजनीतिवेत्ता के रूप में, कहीं शिक्षाविद् के रूप में, तो कहीं प्रौढ़ चिंतक एवं विचारक के रूप में।

लेखक के विचारों में आत्ममंथन और अनुभूति को झंकृत करने की अदभुत् क्षमता है। सफल रचनाकार होने की वजह से इन विचारों में अनेक स्थलों पर शिक्षा और उपदेश का पुट भी दिखाई देता है। मर्मस्पर्शी और शाश्वत विचार व्यक्त करने वाली पंक्तियाँ तभी लिखी जा सकती हैं जब रचनाकार चिंतक की भूमिका से हटकर अनुभव के स्तर पर जीने लगता है।

सिद्धेश्वर जी की अब तक प्रकाशित हैं लगभग एक दर्जन से अधिक रचनाएं। उनको विविध विधाओं की रचनाओं के पारायण से जिस बिंदु पर हम पहुंचते हैं वह यह कि वे अनेक प्रतिभाओं को सिद्धेश्वर जी के साहित्य पर शोध करने के लिए प्रेरित कर सकेंगे, यह इनकी कृतियों का महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान पक्ष है। विचारों का यह संग्रह जन-जन के हृदय-वारिधि में विचार की उत्ताल तरंगे हिलोरें लेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है। हमारा यह भी विश्वास है कि यह कृति लोगों की मानसिकता में बदलाव तथा स्थिति-परिवर्तन में सहयोगी बन सकेगी और तभी लेखक का यह प्रयास और श्रम सार्थक हो सकेगा। मेरी यह भावना लेखक के प्रति श्रद्धा, सम्मान और आस्था की अभिव्यक्ति मात्र है।

भारतीय समाज में धर्म का महत्त्व सर्वोपरि होते हुए भी यह शायद पूरी तरह निर्विवाद नहीं है, क्योंकि अत्यंत धर्मप्राण होने के बावजूद भारतीय समाज अज्ञान, अशिक्षा, गरीबी अँधविश्वास, कुसंस्कार, जातिवाद, संप्रदायवाद, क्षेत्रीयता और मायावाद का शिकार है। धर्म की भूमिका यदि सही होती, तो भारतीय समाज इस कदर भ्रष्टाचार, बेईमानी और झूठ का मारा नहीं होता। दरअसल धर्म का आज चरम

दुरुपयोग हो रहा है। लेखक ने इन्हीं प्रसंगों का विस्तार से वर्णन कर धर्म के यथार्थ को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

भारतीय राजनीति का इस ग्रंथ में जिस प्रकार विवेचन किया गया है वह भी काबिले गौर है। राजनेताओं एवं नौकरशाहों की मिली भगत के चलते प्रशासन के आंतरिक खालीपन-खोखलेपन पर इनकी पैनी दृष्टि गई है जिसमें इनके साहस, निर्भीकता, स्पष्टवादिता और स्वच्छंदता की चरम सीमा झलकती है। इनकी आँखों में परिवर्तन की ललक स्पष्ट देखी जा सकती है। इनका दृढ़ विचार है कि देश को आज ऐसी दृढ़ सरकार चाहिए जिसमें कुछ कर गुजरने की इच्छाशक्ति हो। इनका स्पष्ट मत है कि यदि सरकार हिंसा नहीं चाहती, तो उसके द्वारा एक कठोर न्यायिक आदेश सुनिश्चित किया जाना चाहिए।

साहित्य और संस्कृति की विभिन्न विधाओं में निरंतर प्रवाहित अभिनव साहित्य-सृजन की धारा पर लेखक ने 'समकालीन यथार्थ-बोध' में जो अपने विचार व्यक्त किए हैं वे न केवल समाज-निर्माण के लिए पुष्टिकारक हैं, बल्कि यह कृति प्रत्येक व्यक्ति, परिवार और पुस्तकालय के लिए उपयोगी, पठनीय, मननीय और संग्रहणीय है। जीवन और व्यवहार के हर पक्ष से संबंधित हर विषय पर इसमें दिशा-संकेत मिलता है। पंक्ति-दर-पंक्ति में एक नया दर्शन और नया विचार है। यह कृति, भारतीय वांङमय की एक महत्त्वपूर्ण निधि होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। सिद्धेश्वर जी को इस दुरूह और गुरुत्तर कार्य के लिए साधुवाद।

सिद्धेश्वर जी अपने जीवन की साहसिक यात्रा में अनवरत लेखन के साथ बड़ी निर्भयता से आगे बढ़ रहे हैं और वैसे जीवन का भव्य-प्रासाद तो शिक्षा और अच्छे लोगों के सान्निध्य की भित्ति पर ही खड़ा होता है। अणुव्रत के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी ने इसीलिए तो कीट-पतंगा की तरह जीवन जीने को जीना नहीं कहा है-

पुनरपि जननं पुनरपि मरनं, बड़े कष्ट की बात।
कीट-पतंगा की नाई, जीणो कोई जीणा भ्रात?

साहित्यिक व सामाजिक जीवन की मुख्य धारा में सिद्धेश्वर जी सम्मान के साथ उपस्थित हैं। इनकी अब तक जितनी रचनाएँ आइं हैं उन्हें इन्होंने बड़ी गंभीरता के साथ लिखी हैं। इसलिए इनका रचना-कर्म गंभीर एवं सार्थक विमर्श की माँग करती है। आशा है इस रचना के बाद इन पर गंभीर विचार-विमर्श की प्रक्रिया प्रारंभ होगी, क्योंकि यह पुस्तक साहित्य की सार्थकता में आस्था जगाती है। दरअसल सिद्धेश्वर जी के भीतर कोई विकलता है जिसकी वजह से कलेजा कड़ा करके वे अपनी बात कह देते हैं-इनमें वे सच्चाइयाँ भी चली आती हैं जो अन्यथा नजर नहीं आतीं। दूसरी बात यह है कि

वे बने बनाए चौखटों के पार जाकर यथार्थ की अपनी समझ विकसित करते हैं तथा मनुष्य की तरह उलटते-पुलटते हैं और अपने-हिस्से की हकीकत जानने का प्रयास करते हैं। बेशक यथार्थ-बोध और उतने ही प्रखर विडंबना बोध से लैस सिद्धेश्वर जी का यह पक्ष इतना प्रबल है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। मुझे यह पुस्तक इसलिए भी अच्छी लगी कि लेखक द्वारा बड़ी बेबाकी से साहित्य, संस्कृति, शिक्षा, धर्म, पत्रकारिता और भारतीय राजनीति की कमजोरियों पर ऊँगली रखी गई है। यही नहीं, सिद्धेश्वर जी के इस लेखन में बहुत ईमानदारी से सच बयान किया गया है और बिना किसी लाग-लपेट इनके निष्कर्ष में कमजोरियों पर विजय पाने का आह्वान भी है। मैं लेखक को इतनी उत्कृष्ट कृति के लिए पुनः हार्दिक बधाई देते हुए कामना करता हूँ कि अनवरत रूप से इनका लेखन चलता रहे।

प्रो॰ साधुशरण
पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान
'गीतिका', गली नं0 2, केसरी नगर, पटना-24

●

'समक'समकालीन यर्थाथ बोध' : पथ और पाथेय भी

मत और अभिमत यों तो समानार्थी शब्द प्रतीत होते हैं, किंतु ऐसा है नहीं। दोनों किंचित अलग अर्थ व्यंजित करते हैं, यानी दोनों भिन्नार्थक हैं। मत का तात्पर्य विचार है तो अभिमत का तात्पर्य है विचारों पर विचार, लेखक द्वारा प्रस्तुत-प्रतिपादित मत के संबंध में पाठक या समीक्षक-आलोचक के विचार।

रचनाकार अपनी रचना में अपना मत ही तो व्यक्त करता है, खासकर गद्य रचनाओं में और विशेषकर निबंधों में। निबंध में खास तौर पर निबंधकार के विचार ही एकसूत्र में निबद्ध किये जाते हैं। यहाँ यह भी गौरतलब है कि गद्य अगर कवियों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी। निबंध में निबंधकार की भाषा-दक्षता की परीक्षा होती है।

आलोच्य पुस्तक, 'समकालीन यथार्थ-बोध' निबंधों का अद्वितीय संग्रह है। अद्वितीय इसलिए कि प्रस्तुत संग्रह में एक साथ ही साहित्य, संस्कृति, राजनीति, धर्म, शिक्षा, पत्रकारिता जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर निबंधकार ने अपने परिपक्व मत निबद्ध कर सर्वथा नये क्षितिज का संधान किया है। निबंधकार द्वारा निबद्ध मत-शृंखला के संबंध में अभिमत यानी प्रतिपादित विचार समूहों का मूल्याँकन करना विद्वतापूर्ण कार्य है।

सिद्धेश्वर जी के निबंधों का फलक आकाश की तरह विस्तृत है, विचारों में सागर की गहराई है। उनकी विचार-शृंखला सागर की सतह से उठने वाली लहरें नहीं, प्रत्युत, तल से उठे उदात्त और शुभ्र विचारों के मोती-माणिक हैं। इन्होंने चयनित विषयों पर विहंगावलोकन की बजाय सिंहावलोकन किया है। उनकी दूर दृष्टि बहुत दूर तक देखने में सक्षम है। मेरी दृष्टि में इनके प्रतिपादित मत साहित्य की अमूल्य निधि हैं, और आज की द्विधाग्रस्त पीढ़ी को विचारों का अपूर्व सौगात। जीवन-यात्रा का पथ और पाथेय, दोनों ही, सिद्धेश्वर जी ने एक साथ सुलभ करा दिया। अनुभव, अध्ययन और उदात्त दृष्टि को समन्वित कर पावन त्रिवेणी का संगम उपस्थित किया है अग्रज सिद्धेश्वर जी ने। निबंधों में उनका चिंतक रूप स्पष्टता से उभर पाया है। समाज-सेवा में भिड़े इनके हृदय की उदात्त भावना और इनकी मानवतावादी सोच ने ही निबंधों का रूपाकार ग्रहण किया है। इनका व्यक्तित्व मुखरित हुआ है प्रस्तुत रचना में। रचना वैसे भी रचनाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही है। मैं इनके तलस्पर्शी, पारदर्शी चिंतन से अभिभूत हूँ। अपने वैयक्तिक जीवन में भी सिद्धेश्वर जी उदार, निर्भीक और व्यवहारिक हैं और 'उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्', एक उदारता का ही गुण आदमी को विश्वबंधु बना देता है। लोकमंगल के आग्रही सिद्धेश्वर जी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पोषक हैं।

वरिष्ठ पत्रकार के रूप में इनकी अलग पहचान है। इनके संपादन में प्रकाशित 'विचार दृष्टि' त्रैमासिकी देश के कोने-कोने में आदृत हुई है। इनकी बेवाक टिप्पणियाँ निर्भीक पत्रकारिता का नमूना पेश करती हैं। विभिन्न धर्म, भाषा, क्षेत्रवाले इस विशाल देश में इन्हें जैन धर्मावलंवियों का स्नेह और सान्निध्य प्राप्त है। बौद्ध धर्म की करुणा और मानवता भाव इनके जीवन-व्यवहार में उतर आए हैं। दक्षिण भारत में भी श्री सिद्धेश्वर की खास पहचान बनी है। अहिंदी भाषी प्रदेशों में इन्हें जो प्रतिष्ठा मिली है, वह इनके गतिशील व्यक्तित्व, प्रगतिशील और क्रांतिधर्मी सोच का परिचायक है। आप हिंसक क्रांति की बजाय वैचारिक क्रांति के पोषक-पक्षधर हैं। निबंधों में पत्रकार की दूरदर्शिनी दृष्टि प्रकट हुई है।

श्री सिद्धेश्वर मूल से जुड़े रहकर विकासोन्मुख बदलाव के पक्षधर हैं। मैं इनकी विचारधारा का कायल हूँ। नालंदा जिले का यह सपूत अपनी विशाल और विराट चेतना के फलस्वरूप पूरे भारत में पहचाना जा रहा है, जो प्राचीन नालंदा की स्मृतियाँ ताजा कर देता है। प्राचीन नालंदा विश्वविद्यालय आज खंडहर बन चुका है। भग्नावशेष पर श्री सिद्धेश्वर विचारों का नया विश्वविद्यालय निर्मित करने में लगे हैं। नालंदा का प्राचीन ज्ञान-गौरव, विराट चिंतन प्रस्तुत निबंध रचना में मूर्तिमान हुआ है।

प्रस्तुत संग्रह की सबसे विलक्षण और रेखांकित करने योग्य बात यह है कि विद्वान लेखक के स्वानुभूत मत संग्रहीत हैं। अनुभव की कसौटी पर प्रतिपादित मत खरे और तर्कयुक्त हैं।

एक बात यहाँ स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि विद्वान लेखक ने किताबी ज्ञान से प्राप्त विचारों को तोतें की तरह दुहराया नहीं है। समाज-सेवा के दौरान प्रतिपादित विषयों पर लेखक को जो अनुभव प्राप्त हुए हैं, उन अनुभवों को उन्होंने तार्किक और सरस एवं हृदयग्राही अभिव्यक्ति प्रदान की है। सत्य का स्वरूप उसका फलक इतना विस्तीर्ण होता है कि लिखने के क्रम में सारे विचारों को एकबारगी समेट पाना या उन्हें पूर्णता में प्रस्तुत कर पाना दुष्कर होता है। फिर भी मैं यहाँ स्पष्ट करना चाहूँगा कि निबंधकार का अनुभव-फलक, उनकी दृष्टि संकीर्ण नहीं, प्रत्युत अति विस्तीर्ण है और प्रतिपादित मत एकांगी नहीं, बहुआयामी है। बड़ी-बड़ी विचार-गोष्ठियों में भी आजकल ऐसे उदात्त और सुस्पष्ट, सुलझे विचार सुनने को नहीं मिलते, न ही किसी एक पुस्तक में इतने सारे विषयों पर विस्तार से इतना कुछ पढ़ने-समझने को मिलता है। मेरी दृष्टि में तो प्रस्तुत संकलन परिपक्व मतों से निर्मित विचारों का अद्वितीय ताजमहल है जो अक्षर निर्मित है। ताजमहल का क्षरण हो रहा है, किंतु मतों के वाहक अक्षर तो अजर-अमर हैं। पुनः यह रचना समकालीन यथार्थ बोध से संबंधित है। पूर्व के विचारों का समावेश इस रचना में अपने आप हो गया है। वर्णित

विषयों के पुरातन विचारों को अधुनातन बनाकर विद्वान लेखक ने प्रस्तुत किया है। बदलाव प्रकृति का नियम है। विचारों में भी युगानुरूप बदलाव होता है। मैं तो कहूँगा कि पुरातनता की पीठिका पर ही नये विचारों का सृजन होता है। पुरातनता के प्रति आग्रह बुरा नहीं है। दुराग्रह में बुराई है, पुर्वाग्रह बुरा है। ऐसे में विचार तक संकुचित हो जाते हैं। मुझे इस बात की खुशी है कि 'राष्ट्रीय विचार मंच' के संस्थापक, महासचिव, बड़े भाई सिद्धेश्वर जी पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं। उन्होंने परंपरा पर अपनी दृष्टि टिकाए रखकर पूर्व मतों का युग के अनुरूप संशोधित और परिवर्द्धित ही किया है। इस मायने में लेखक की सफलता असंदिग्ध और स्पृश्यीय है। वे इस युग के बोधि सत्व हैं।

प्रस्तुत निबंध-संग्रह छह खंडों में विभाजित है-

(1) साहित्य (2) संस्कृति (3) धर्म-कर्म (4) शिक्षा (5) पत्रकारिता और (6) राजनीति।

प्रत्येक शीर्षक में विषय के विविध आयामों की विद्धतापूर्ण चर्चा, साहसिक प्रतिपादन ने निबंध-संग्रह को जीवन, समाज और राष्ट्र के लिए उपादेय बना दिया है। निबंधों में इनका गंभीर चिंतन सुबोध शैली में व्यक्त हुआ है। वैचारिक क्रांति के पक्षधर-पोषक निबंधकार युवा-वृद्ध, साहित्यकार-पत्रकार, शिक्षाशास्त्री, अध्येता, शोध कर्ता, अध्यापक, प्राध्यापक तथा प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के अक्षय प्रेरणा-स्रोत के रूप में उभरा है।

प्राक्कथन में श्री सिद्धेश्वर ने निबंधों में प्रतिपादित मतों का सार प्रस्तुत कर पाठकों का काम सरल कर दिया है।

आज के भौतिकवादी युग में जब लोग पद और पैसे के पीछे पागल और पैरवी पहुँच बनाने में मशगूल हैं, राजनीति से जुड़े रहकर भी सिद्धेश्वर जी ने साहित्य-सृजन का मार्ग चुना, यह महत्त्वपूर्ण है। वे चाहते तो चुनाव लड़ सकते थे, किंतु सत्ता-सुख की लालसा इनके मन में नहीं है। वे समाज और राष्ट्र में नयी प्रगतिशील सोच विकसित करने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। उनके नेतृत्व में स्थापित 'राष्ट्रीय विचार मंच' वैचारिक क्रांति के लिए प्रतिबद्ध है। यह आवश्यक भी है, चूँकि विचार परिवर्तन के बिना अपेक्षित बदलाव नहीं आ सकता है। इसी कारण पूज्य बापू के '-सुराज' का सपना अधूरा रह गया। बुद्धिजीवियों पर यह विशेष दायित्व है कि वर्तमान की दशा-दिशा सुधारने, सुनहरे भविष्य की आधारशिला रखने हेतु, सिद्धेश्वर जी की नाई प्रयत्नशील हों। मुझे इस बात पर प्रसन्नता है कि बुद्धिजीवियों में अपनापन उच्च स्थान रखनेवाले सुकवि, साहित्यकार, पत्रकार सिद्धेश्वर जी ने अपना सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्व निभाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है। प्रस्तुत रचना इस बात का प्रमाण है। सबसे बड़ी बात

यह है कि वे कथनी से अधिक करनी में विश्वास रखते हैं और देश के विभिन्न भागों में विचार-गोष्ठियाँ आयोजित कर वैचारिक क्रांति हेतु जमीन तैयार करने में संलग्न हैं। समाज जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र के आधार पर विभक्त हो चुका है। संबंधों में कटुता पनप चुकी है। सामाजिक सौहार्द बिगड़ चुका है। यह विकृत राजनीति की देन है। साहित्यकार भी अपने उद्धेश्य से भटक गया है पत्रकार भी तटस्थ और निष्पक्ष नहीं रह पाया और पत्रकारिता भी लेखन और राजनीति की तरह पेशा बन गयी। जैसा पहले धर्म का धनार्जन के लिए दुरुपयोग किया गया, कुछ वैसा ही आज पूर्व वर्णित विधाओं का स्वार्थ-साधन के लिए दुरुपयोग किया जा रहा है। देश की संस्कृति पर भी आधुनिकता के नाम पर निहित स्वार्थी तत्त्वों द्वारा प्रहार किया जा रहा है। शिक्षा का स्वरूप भी गुलामी के दिनों से ही बिगड़ चुका है। आज शिक्षा के नाम पर मुद्रा-मोचन का कार्य किया जा रहा है। इन क्षेत्रों में आयी गिरावट से लेखक चिंतित है और उसने निजात का मार्ग भी सुझाया है।

मेरी दृष्टि में प्रस्तुत निबंध-संग्रह समय और समाज के साथ-साथ वर्तमान की विविध गतिविधियों को समझने-परखने और आयी विकृतियों से सचेत-सावधान करते हुए नये भारत के निर्माण की पीठिका तैयार करने में सक्षम है। लेखक की व्यापक दृष्टि, मानवतावादी सोच, साहसिक विचार हर वर्ग, और हर समुदाय के लोगों के लिए प्रेरक सिद्ध होगी।

कुल मिलाकर देखा जाए तो लेखक का प्रस्तुत संग्रह अद्‌भुत है जिसमें यथार्थ की एक आश्वस्तिदायी खोज अपनी धारदार लेखनी के साथ दिखाई पड़ती है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि इसके लेखक को अपने समय की अचूक पहचान है और साहित्य, संस्कृति, पत्रकारिता तथा राजनीति आदि के जिन चीजों को पकड़ने की कोशिश वे अरसे से करते रहे, उनकी सही पहचान और पकड़ उन्हें इस संग्रह में जाकर हुई है।

गद्य लेखक की कलम से विचारों के मंजुल मोती विहँसते रहें, इसी कामना के साथ उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए मैं उनके दीर्घायु और सतत रचनाशील रहने की मंगल-कामना करता हूँ।

युगल किशोर प्रसाद
'साधना कुटीर'
ग्राम- मुरगावाँ, भाया-परवलपुर, नालंदा

●

हिंदी भारती-मंदिर की एक अमूल्य निधि

साहित्य की विभिन्न विधाओं के समर्थ स्रष्टा, उच्च कोटि के चिंतक और ओजस्वी वक्ता श्री सिद्धेश्वर प्रणीत 'समकालीन यथार्थ-बोध' हिंदी भारतीय-मंदिर की एक अमूल्य निधि है जिसमें अनेक जीवनोपयोगी तत्त्वों और तथ्यों का समावेश मनोवैज्ञानिक तथा वैचारिक दृष्टि से किया गया है। यह पुस्तक छः खण्डों में विभक्त है। प्रथम खंड के अंतर्गत साहित्य के विविध पक्षों से संबंधित आठ प्रौढ़ निबंध हैं, प्रत्येक निबंध के अलग-अलग पक्ष हैं।

इस पुस्तक के प्रथम खण्ड 'साहित्य' में साहित्य को पारिभाषित करते हुए जहाँ उसकी उपादेयता पर विचार किया गया है, वहाँ साहित्य के वर्तमान परिदृश्य पर दृष्टिपात करते हुए साहित्यकारों की भूमिका की ओर भी इंगित किया गया है और यह बताया गया है कि साहित्य ही मनुष्य को इतर प्राणियों से भिन्न महत्त्व प्रदान करता है। साहित्य के बिना न तो मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और न समाज, राष्ट्र या विश्व के हित की बात सोच सकता है। तदंतर भाषा और समाज के अन्योन्याश्रय संबंध पर दृष्टिपात करते हुए लेखक ने इस सम्य का उद्घाटन किया है कि व्यापक फलक पर उदार एवं मनस्वी साहित्यकार का व्यक्तिगत 'अहं' समाज के समष्टिगत 'अहं' के साथ तादात्म्य स्थापित कर सत्यं, शिवं, सुंदरं, के द्वार खोल देता है।

लेखक सिद्धेश्वर ने साहित्य की पाँच विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यानाकर्षण किया है- 1. स्मरणशीलता, 2. संक्रमणशीलता, 3. प्रयत्नशीलता, 4. प्रगतिशीलता और 5. संवेदनशीलता।

समकालीन यथार्थ-बोध पर विचार करने से पूर्व आधुनिक और समकालीन यथार्थ-बोध के प्रत्यात्मक संदर्भ पर भी विचार किया जाना चाहिये। 'आधुनिकता युग-बोध और काल-बोध की विशिष्टता का गुण है तथा समकालीनता स्थिति-विशेष का। आधुनिकता का आयाम अत्यंत विस्तृत होता है, किंतु समकालीनता का दायरा सीमित।' सिद्धेश्वर जी ने इस निबंध में समकालीन यथार्थ-बोध को उसके मानों-प्रतिमानों सहित वर्तमान के मोड़ पर प्रत्ययीकृत करने की सफल चेष्टा की है।

द्वितीय खण्ड 'संस्कृति' में उन्होंने संस्कृति को पारिभाषित करते हुए बताया है कि 'समन्वय और सुरुचि का ही दूसरा नाम संस्कृति है।' मगर इस समन्वय और सुरुचि की आधारशिला आदर्श होनी चाहिए। पाश्चात्य संस्कृति में वह आदर्श नहीं है, क्योंकि वह उपभोक्तावादी है। इसलिए भारतवासियों के हित में भारतीय संस्कृति ही उपयुक्त सिद्ध हो सकती है। अगर इस देश के लोग अन्य

देशों की संस्कृति की नकल करेंगे, तो वे उस संस्कृति को तो नहीं ही अपना सकेंगे, क्योंकि वह संस्कृति उनकी प्रकृति के प्रतिकूल होगी और इसी वाम-दक्षिण के फेरे में वे अपनी संस्कृति के अनुसार भी नहीं चल सकेंगे। अतएव भारतीय संस्कृति ही भारतवासियों के लिए सुखकर, हितकर और श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है 'तभी तो अनेक संस्कृतियों और जातियों के मिलन से भारतीय संस्कृति में जो एक प्रकार की विश्वजनीनता उत्पन्न हुई, वह संसार के लिए सचमुच वरदान है और पिछले दो सौ वर्षों से सारा संसार उसका प्रशंसक रहा है।' इसमें संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति में जहाँ एक ओर आध्यात्म है, वहाँ दूसरी ओर उसमें वैज्ञानिकता है और तीसरी ओर नैतिकता भी है। यद्यपि भारतवर्ष में अनेक जाति, धर्म, संप्रदाय और मत के माननेवाले लोग बसते हैं, तथापि सबकी संस्कृति एक है। यही सांस्कृतिक एकता भारत को अखण्ड बनाए हुई है।

पाश्चात्य सभ्यता और वैज्ञानिक आविष्कारों के चलते हमारी संस्कृति प्रदूषित होने लगी है, आधुनिकता के नाम पर हम प्राचीन संस्कृति को भूलते जा रहे हैं, तभी तो आज मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है। हमारी संस्कृति में 'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया', 'अहिंसा परमो धर्म:' तथा 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की भावना है।

तदुपरांत लेखक ने बदलती हुई सामाजिक अवधारणाओं की ओर संकेत करते हुए यह कहा है कि हमें पाश्चात्य संस्कृति की अश्लीलता और चाकचिक्य से दूर रहना चाहिए क्योंकि वह संस्कृति मानवीय और नैतिक मूल्यों से शून्य है। पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होने के कारण ही आज संयुक्त-परिवार जैसी संस्था विखर गयी है और वैयक्तिक परिवार तक ही लोग सिमटते जा रहे हैं। इसका कुपरिणाम यह हुआ है कि आज माता-पिता, भाई-बहन आदि के प्रति भी लोगों में प्रेम तथा श्रद्धा का अभाव दीख रहा है। फिर ऐसे लोगों में सामाजिक सद्भाव, स्नेह, करुणा, ममता, सहयोग और सहानुभूति आदि का भाव भला विकसित ही कैसे हो सकता है। जो पत्नी भारतीय संस्कृति में अर्द्धांगिनी मानी जाती है, सहयोगिनी मानी जाती है, वही नारी पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण आज पुरुषों के लिए भोग्या बन गयी है। इस अपसंस्कृति से कला, साहित्य और शिल्प भी प्रभावित हुआ है। श्री सिद्धेश्वर ऐसी अपसंस्कृति से भारतवासियों को सावधान करते हुए भारतीय संस्कृति के आदर्शों को अपनाने की बात कहते हैं।

सन् 1950 ई० के बाद साहित्य में एक मोड़ आया। इस साहित्य में यथार्थ का चित्र उभड़ने लगा। साहित्य में जो मार्क्सवादी कट्टरता उद्वेलित हुई थी, उसमें थोड़ी-थोड़ी उदारता आने लगी। अब साहित्य में पूर्ण मानव के यथार्थ चित्र

को व्यंजित किए जाने लगा तथा युगीन यथार्थ को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत किया जाने लगा। यहीं से समकालीन साहित्य के सृजन का आरंभ माना जाता है। इस काल के साहित्य में बदलती हुई सामाजिक अवधारणों को नग्न रूप में चित्रित करने की चेष्टा की गयी है।

जहाँ तक भाषा और संस्कृति का संबंध है, यह तो सर्वविदित है कि भाषा संस्कृति का अनुगमन करती है और संस्कृति के अनुरूप ही भाषा की भी भंगिमा होती है।

भाषा के माध्यम से मनुष्य अपनी भावाभिव्यक्ति करता है। सांस्कृतिक चेतना को अनुप्राणित, विकसित और परिमार्जित करने का सर्वोत्तम साधन भाषा ही है। दर्शन हो, विज्ञान, साहित्य हो या कला-सब की सैद्धांतिक और तथ्यात्मक व्यंजना प्रामाणिक रूप से भाषा द्वारा ही की जाती है। भाषा को देखकर ही हम किसी जाति, समाज या राष्ट्र की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार जिस जाति, समाज या राष्ट्र की जैसी संस्कृति होती है, उसी स्तर की उसकी भाषा भी होती है।

इसमें संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति समन्वयमूलक है, विविधताओं के देश भारतवर्ष में इसी समन्वयमूलक संस्कृति के माध्यम से राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण बनाये रखा जा सकता है। समकालीन हिंदी साहित्य में यह प्रवृत्ति सहज ही देखी जा सकती है। इस युग के यथार्थ को व्यक्त करने के लिए साहित्यकारों ने एक विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। प्रयोगवादी साहित्य अथवा नये साहित्य में इसी प्रकार की भाषा व्यवहृत हुई है। इधर आकर हिंदी भाषा में उर्दू और अँग्रेजी भाषा के शब्दों के प्रयोग अधिक होने लगे हैं। अपनी भावाभिव्यंजना के लिए समकालीन साहित्यकार नये बिंब, नये प्रतीक और नवीन कथन-शैली को अपना रहे हैं। इसीलिए समकालीन साहित्य की भाषा अपने पूर्व के साहित्य से भिन्न दृष्टिगोचर होती है।

भाषा और संस्कृति में गहरा संबंध है। तभी तो पारस्परिक योग से दोनों का निर्माण होता है। जिस समाज की भाषा जितनी समृद्ध होती है, उस भाषा-भाषी समाज का संस्कार उतना ही उत्तम होता है।

विभिन्न आक्रमणकारियों ने भारत पर आक्रमण कर इसकी संस्कृति को नष्ट करने की चेष्टा की, यहाँ शक, हूण, मुसलमान, अँग्रेज और न जाने कौन-कौन आये, मगर भारतीय संस्कृति को चाहकर भी वे नष्ट नहीं कर सके, बल्कि इसी संस्कृति में उनकी संस्कृति गल-पच गयी। आज भले ही वे सब जाति और धर्म से भिन्न-भिन्न हैं, किंतु सबकी संस्कृति एक है और उस

भारतीय सांस्कृतिक एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने की आवश्यकता है। राष्ट्रपति ए.जी.जे. अब्दुल कलाम ने ठीक ही कहा है- 'हमारी एकता की भावना और हमारे लक्ष्यों के प्रति हमारी लगन को सबसे ज्यादा खतरा उन विचारों से है, जो जनता को विभाजित करना चाहते हैं। भारतीय संविधान में सभी नागरिकों को संपूर्ण बराबरी का हक दिया है। अब चिंता का विषय यह है कि धार्मिक स्वरूप को धार्मिक भावनाओं पर लादने की कोशिश की जा रही है। हम अपनी विरासत के लिए धर्म की जगह सांस्कृतिक संदर्भ क्यों नहीं विकसित कर सकते, जो हम सभी को भारतीय बनाने के लिए कार्य करेगा।' मगर इस बात को भूलकर विभिन्न धर्मावलंबी तथा विभिन्न भाषा और जाति के लोग दिग्भ्रमित हो रहे हैं, जो राष्ट्र की अखण्डता के लिए एक खतरा का सूचक है।

आज भारतीय संस्कृति में अँधविश्वास और आडंबर इस प्रकार घुस गये हैं कि इसके चलते जहाँ हमारे आचार-विचार दूषित हो रहे हैं, वहाँ रूढ़िग्रस्तता के कारण, धार्मिक उन्माद के कारण-जगह-जगह दंगे हो रहे हैं। जब संपूर्ण राष्ट्र की एक संस्कृति हो जायेगी तो ऐसे दंगे कदापि न होंगे, क्योंकि वैसी स्थिति में लोग धर्म, संप्रदाय, जाति आदि की संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठकर अपने-अपने समाज, अपने राष्ट्र और यहाँ तक कि समस्त मानव जाति के उत्कर्ष और कल्याण की बात सोचते हैं। कवयित्री महादेवी वर्मा ने ठीक ही कहा है- 'मनुष्य की स्थूल पार्थिव सत्ता उसकी रंग-रूपमयी आकृति में व्यक्त होती है। उसके बौद्धिक संगठन से जीवन और जत-संबंधी अनेक जिज्ञासाएँ, उनके तत्त्व के शोध और समाधान के प्रयास, चिंतन की दिशा आदि संचालित और संयमित होते हैं।' वस्तुत: 'किसी विशेष भूखण्ड के निवासियों की इसी विशिष्ट रागात्मक संवेदनीयता और बौद्धिक संगठन को 'संस्कृति' कहते हैं।'संस्कृति का प्रभाव समाज या राष्ट्र पर बहुत अधिक पड़ता है, 'हम सुसंस्कृत राष्ट्र उसे कहेंगे जिसकी विवेकशीलता और सौंदर्य-बोध विकसित हो। संस्कृति प्राचीन इच्छाओं और चेष्टाओं का निषेध या दमन नहीं करती, उन्हें मर्यादित, परिमार्जित और उन्नत करती है।' मगर जब संस्कृति पर आघात होता है तो कला, साहित्य, समाज, राष्ट्र आदि सब में विकृति आ जाती है। साहित्यकार सिद्धेश्वर ने इसका प्रभाव समकालीन यथार्थ-बोध के स्तर पर बड़ी ही कुशलता के साथ दर्शाने का प्रयास किया है।

इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में 'धर्म-कर्म' के यथार्थ पर विचार किया गया है और बताया गया है कि वर्तमान समय में इनके स्वरूप परिवर्तित हो गये हैं। अद्यतन युग में धर्म के मूल स्वरूप और उसकी प्रकृति पर मनोविज्ञान और विज्ञान का प्रभाव तो पड़ा ही है, परिवेश और परिस्थिति का भी प्रभाव पड़ा है।

तभी तो आज हमारी भारतीय संस्कृति वैचारिक संकट के दौर से गुजर रही है और इस देश का धर्म-कर्म भी उससे प्रभावित हुआ है। जिन्हें धर्म-कर्म से कोई मतलब नहीं है, वे ही आज उसके ठेकेदार बन गये हैं। आज धर्म में पाखण्ड और वाह्य-प्रदर्शन घुस गया है। कर्मकाण्डी पंडितों, पुजारियों, मुल्लाओं और पादरियों द्वारा धर्म के नाम पर भोले-भाले जन-समाज को ठगकर केवल अपना उल्लू सीधा किया जा रहा है।

कोई भी धर्म घृणा या विद्वेष की भावना उत्पन्न नहीं करता, मगर कुछ कट्टरपंथियों के चलते आज धार्मिक उन्माद फैलाया जा रहा है और धर्म की आड़ में जाने कौन-कौन से जघन्य कृत्य किये जा रहे हैं। इस यथार्थ को सिद्धेश्वर जी ने वास्तविकता के धरातल पर प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

वर्तमान समय में धर्म के नाम पर जहाँ सांप्रदायिकता का जहर समाज और देश में घर कर गया है वहाँ आतंकवादी गतिविधियाँ भी चलायी जा रही हैं और अलगाववाद की भावना भी पनप रही है। भगवान बुद्ध, स्वामी दयानंद सरस्वती, महात्मा गाँधी, स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद आदि ने धर्म की व्याख्या करते हुए इसे जीवनोत्कर्ष की एक प्रक्रिया या पद्धति बताया है। स्वामी विवेकानंद की तो स्पष्टोक्ति है- हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल: यही नहीं, यह हमारे जातीय जीवन की भी मूल भित्ति है। सच कहा जाय तो धर्म की हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन पर इतनी गहरी पकड़ है कि इसके जरिये सत्कर्म की प्रेरणा भी जगाई जा सकती है।' मगर समकालीन युग में धर्म का यथार्थ कुछ और ही दिखाई देता है। श्री सिद्धेश्वर ने उस यथार्थ को बड़ी ईमानदारी के साथ इस रचना में प्रस्तुत किया है। सिद्धेश्वर जी का व्यक्तित्व कबीर और लोहिया की भाँति बड़ा ही अक्खड़ और फक्खड़ है। तभी तो वे धर्म के वाह्याडंबर की चट्टान को तोड़कर, मंदिर-मस्जिद, पूजा-नमाज, कुरान- पुराण, पंडित- मुल्ला आदि के पाखण्ड को नकार कर हृदय के देवता को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं और राम-रहीम तथ केशव-करीम में भेद नहीं मानते। मगर इतना होने पर भी, उनकी दृष्टि धर्म के यथार्थ रूप पर टिकी रहती है। तभी तो उनकी तूलिका ने उस यथार्थ के अंकन में कमाल कर दिखाया है। उनकी मान्यता है कि जब तक धर्म के वास्तविक व यथार्थ रूप से लोग परिचित न होंगे तबतक न तो पारस्परिक सद्भाव, सौहार्द और बंधुत्व की भावना का उद्रेकीकरण होगा और न समाज तथा राष्ट्र का उन्नयन होगा।

जहाँ तक कर्म की बात है, इसका संबंध कर्त्तव्य से है। यह सारा संसार

ही कर्म क्षेत्र है जहाँ के समस्त प्राणी अहर्निश किसी-न-किसी कर्म में लगे ही रहते हैं। कर्म की समाप्ति का अर्थ है जीवन की समाप्ति, कर्मशील व्यक्ति ही अपने जीवन में सफलता प्राप्त कर पाता है और वर्गचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) की प्राप्ति करने में सक्षम हो पाता है। भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा भी है- 'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।'

ऐसी स्थिति में वस्तुत: कर्म ही पूजा है। मगर समकालीन युग में कर्म का यथार्थ कुछ और ही दीखता है। आज अकर्म भी कर्म बन गया है। मिथ्या-वाचन से दूसरों को ठगकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेना, पूजा के नाम पर चंदे वसूलना, घूस लेना, चोरी डकैती, लूट-पाट और हत्या करना, घोटाला-पर-घोटाला करना आदि सब कर्म बन गया है। आज कर्म की परिभाषा ही बदल गयी है। सिद्धेश्वर जी यह सब देख-सुनकर मन-ही-मन चिढ़ रहे हैं और कर्म के वास्तविक तथा सुष्ठ रूप से लोगों को परिचित कराना चाहते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सही कर्म-मार्ग पर चले तो निश्चय ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जायगा। गीता में ही कहा गया है-

'श्रेयान्स्वधर्मोविगुण: पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नोतिकिल्विषेम।।'

समकालीन यथार्थ है कि लोग 'स्वभावनियतं कर्म' का अर्थ जानकर बहुतेरे अकर्म कर रहे हैं। इसीलिए तो आज का मानव बेरोजगार है, अभावग्रस्त है और विभिन्न प्रकार की समस्याओं से जूझ रहा है। यही उसकी नियति बन गयी है। इस समसामयिक यथार्थ का बड़ा ही सजीव और वास्तविक चित्र उकेरा है। जब धर्म में कट्टरता या विकृति आ जाती है, राजनीति में स्वार्थपरता आ जाती है तो वह खतरनाक हो जाती है। तभी तो जहाँ-तहाँ सांप्रदायिक दंगे होने लगते हैं। श्री सिद्धेश्वर के अनुसार, 'धर्म को अपना सर्वग्रासी रूप छोड़कर उदात्त नैतिकतावाले तत्त्व, कर्म और आचरण को अपनाने में ही देश व समाज का कल्याण है। टी०एस० इलियट, क्रॉम्प्ट, विवेकानंद आदि द्वारा परिभाषित धर्म की ओर इंगित करते हुए सिद्धेश्वर ने ऐसे उदात्त धर्म की अपेक्षा की है जिसमें उदात्तता और उदारता हो, नैतिकता और आर्दश हो तथा प्रत्येक प्राणी में स्नेह-सद्भाव उत्पन्न करने की क्षमता हो। वास्तव में महान लोगों के लिए धर्म दो हृदयों को जोड़ने की एक पद्धति है, मगर निम्नकोटि के लोगों के लिए संघर्ष का हथियार है। लगभग यही बात राष्ट्रपति ए०पी०जे० अब्दुल कलाम ने भी अपनी 'तेजस्वी मन' नामक पुस्तक में कही है।

इसी प्रकार विकृत धर्म के अनुसार किये गये कर्म भी परस्पर एक-दूसरे के मन में घृणा की भावना उत्पन्न करते हैं जिससे धार्मिक उन्माद फैलता है और

सांप्रदायिक दंगों को प्रश्रय मिलता है।

समसामयिक साहित्य में इस यथार्थ का चित्रांकण करने में साहित्यकारो को यथेष्ट सहायता मिली है, किंतु सिद्धेश्वर ने उस यथार्थ को अपनी इस रचना में प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है, वह अन्य साहित्यकारों से इसलिए भिन्न है कि इन्होंने इस यथार्थ को अपनी आँखों देखा है और स्वंय उसकी अनुभूति की है।

'समसामयिक यथार्थ-बोध' के चतुर्थ खण्ड 'शिक्षा' में शिक्षा-संबंधी दस विचारात्मक निबंध हैं। प्रत्येक निबंध सिद्धेश्वर की मौलिक दृष्टि की सूचना देते हैं।सर्वप्रथम शिक्षा शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए निबंधकार ने शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन किया है और उसके सीमित और व्यापक अर्थ से पाठकों को परिचित कराया है। श्री सिद्धेश्वर के मतानुसार, सीमित अर्थ में शिक्षा एक पूर्व निश्चित योजना द्वारा प्रदान की जाती है। यह विद्यालय या महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय की चहारदीवारों तक ही सीमित रहती है। यह शिक्षा निश्चित अवधि, निश्चित पाठ्यक्रम व पद्धतियों तक सीमित रहती है। यह शिक्षा विद्यार्थियों को निश्चित ज्ञान, कौशल और योग्यता प्रदान करने के लिए दी जाती है ताकि दक्षता, प्राप्त कर वे समाज की उपलब्धियों को और आगे बढ़ाने में अपना योगदान दे सकें।' पाश्चात्य विद्वान जे॰एच॰ मैकेंजी के कथनानुसार 'सीमित अर्थ में शिक्षा से तात्पर्य आत्मिक शक्ति के उन्नयन तथा सुधार हेतु सजग होकर किये गये प्रयास हैं।

व्यापक अर्थ में शिक्षा सीखने की वह प्रणाली है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने की कला सिखाती है। 'गाँधी, मोहम्मद, ईसा, महावीर, बुद्ध, गुरु गोविन्द सिंह' आदि संत-महात्मा ये सब शिक्षक थे। इनकी शिक्षा शाला की चहार-दीवारों में बंद होकर नहीं रही। इसने समस्त समाज और देश में व्याप्त होकर जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित किया। सड़क चलते ठोकर खाकर हम कुछ सीख लेते हैं। दूसरों का कुछ कार्य देखकर भी हम कुछ सीख लेते हैं। इस तरह का सीखना अनायास होता है, किसी निश्चित क्रम या प्रणाली के आधार पर नहीं होता। ऐसी शिक्षा व्यापक स्वरूप व्यक्त करती है।' सिद्धेश्वर का यह विचार पाश्चात्य विद्वान टी॰ रेमण्ड के विचार से मिलता-जुलता है। टी॰ रेमण्ड की मान्यता है कि व्यक्ति को भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक वातावरण के योग्य बना देना ही व्यापक शिक्षा का अभिप्रेत है।'

निबंधकार केवल पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करने में ही शिक्षा की अर्थवत्ता नहीं देखता, बल्कि वह व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया को यथार्थ शिक्षा

मानता है।

तत्पश्चात् निबंधकार भारत के अतीत की शिक्षा की ओर इंगित करते हुए कहता है कि उन दिनों यहाँ शिक्षा का स्तर बड़ा ही उच्च था। नालंदा, तक्षशिला, विक्रमशिला आदि शिवविद्यालयों में विदेशों से लोग शिक्षा ग्रहण करने-हेतु आते थे। शिक्षा का ऐसा आदर्श विश्व में नहीं था। भारत धर्म-गुरु या शिक्षा-गुरु माना जाता था।

किंतु, स्वतंत्र भारत में शिक्षा का स्तर गिरता गया और आज भी गिरता ही जा रहा है। सरकार का सर्वशिक्षा अभियान तो टाँय-टाँय-फिस् हो गया है। बहुतेरे विद्यालयों के भवन नहीं हैं तो कहीं-कहीं शिक्षक ही नहीं हैं, अगर शिक्षक हैं भी तो अत्यल्प संख्या में। शिक्षकों को समय पर वेतन नहीं दिये जाते। कुकुरमुत्ते की तरह कन्वेन्ट स्कूल उग आये हैं और उगते ही जा रहे हैं, जिनका उद्देश्य अध्ययन कम और पैसा कमाना अधिक है। यहाँ की शिक्षा इतनी अधिक खर्चीली है कि अभिभावकों को बहुत अधिक परेशानी का सामना करना पड़ता है। आरक्षण के आधार पर या पैरवी और घूस के आधार पर जिन शिक्षकों की नियुक्ति की जाती है, वे अध्ययन कार्य में टाल-मटोल करते हैं या छात्र-छात्राओं को यथार्थ ज्ञान नहीं देते। शिक्षा के प्रति सरकार की भी नीति बड़ी ही ढुलमुल है। आज भी मैकाले की शिक्षा-नीति ओर शिक्षा-पद्धति चल रही है। ऐसी स्थिति में भला शिक्षा का स्तर उठ ही कैसे सकता है। शिक्षा का यह वर्तमान यथार्थ आज विचित्र विडंबना बन गया है। अँग्रेजी माध्यम के कन्वेन्ट में पढ़ना प्रतिष्ठा की बात मानी जा रही है, मगर हिंदी माध्यम के विद्यालयों में पढ़नेवाले छात्रों को हेय दृष्टि से देखा जा रहा है। आज की शिक्षा को दूषित करने ओर इसे पंगु बनाने में राजनेताओं का हाथ अधिक है।

तदंतर शिक्षा के उद्देश्य पर विचार करते हुए सिद्धेश्वर जी ने इसे व्यक्ति, समाज और देश के संतुलित विकास का साधन माना है। वस्तुत: शिक्षा ही मनुष्य को अन्य प्राणी से भिन्न कर उसमें ज्ञान का आलोक भरती है, नैतिकता का समावेश करती है और उसे सम्य तथा सुसंस्कुत बनाती है। इसलिए कहा जाता है- 'नास्ति विद्या सयम् चक्षु: विद्ययाऽमृतमश्नुते'। विद्या के संबंध में ऐसा भी कहा गया है-

'विद्या ददाति विनयम् विनयाददाति पात्रत्वाम्।
पात्रत्वाद्धनाप्नोति, धनाद्धर्मम् तत: सुखम्।।

इस दृष्टि से विद्या का महत्त्व मानव-जीवन में सर्वथा अनुपेक्षणीय है।

किंतु समकालीन युग का यथार्थ है कि इसमें शैक्षणिक व्यवस्था कई कारणों से चरमरा गयी है। आज ज्ञान प्राप्त करने की ऐषणा और जिजिविषा का अभाव शिक्षार्थियों में हो गया है और केवल डिग्री या उपाधि प्राप्त करने की होड़ लगी हुई है। शिक्षा के व्यवसायीकरण, दाँव-पेंच लगाकर नामाँकन और उत्तर-पुस्तिकाओं के मूल्याँकन के फलस्वरूप शिक्षा का आदर्श ही समाप्त हो गया है और हो रहा है। सरकार का शिक्षा-अभियान और साक्षरता-अभियान असफल हो गया है। इसलिए आरंभिक शिक्षा से लेकर उच्चत्तम शिक्षा तक के स्तर में सुधार लाना अत्यावश्यक है।

उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भी शिक्षा-नीति का ग्राफ संतुलित नहीं हो पा रहा है। इतना ही नहीं, शिक्षा-माफिया की गतिविधि के कारण भी शिक्षा की स्थिति में गिरावट आती जा रही है।

शिक्षा का नैतिकता के साथ बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। नीतिविहीन शिक्षा फल-विहीन वृक्ष की भाँति होती ह। नैतिक-शिक्षा के साथ-साथ आज जीवन-विज्ञान शिक्षा की भी आवश्यकता हो गयी है। इस शिक्षा के अभाव में ही पढ़े-लिखे नवयुवक नौकरी की तलाश में यत्र-तत्र भटकते रहते हैं और अपने पेट की आग बुझाने के लिए तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चोरी, डकैती, अपहरण, हत्या, ठगी आदि धंधे में लिप्त हो जाते हैं। जीवन-विज्ञान की शिक्षा से उन्हें सुखी और शांतिमय जीवन जीने की शैली का ज्ञान प्राप्त होता है और वे स्वरोजगार की ओर उन्मुख होते हैं। जीवन विज्ञान हमें आदर्श जीवन जीने की कला सिखलाता है। छविनाथ पाण्डेय ने अपनी 'जीवन-कला' नामक पुस्तक में जीवन-जीने की जो शिक्षा दी है, वह आज के नवयुवकों के लिए बड़ा ही उपयोगी है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के इतने अधिक वर्षों बाद भी देश की ऐसी शिक्षा नहीं बन सकी, जिसमें समाज-हित और राष्ट्रीयता की भावना का समावेश हो तथा जिसके माध्यम से जन-जन में प्रेम, बंधुत्त्व, करुणा, क्षमा तथा सद्भाव आदि सात्त्विक गुणों का विकास हो सके। इसलिए आज आदर्श पर आधृत एक नयी शिक्षा नीति का निर्माण किया जाना चाहिए जिससे शिक्षा-जगत में एक नूतन क्षितिज का संधान हो सके।

इस प्रकार समकालीन शिक्षा के यथार्थ पर श्री सिद्धेश्वर जी ने गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए प्रकारांतर से उसकी विविध समस्याओं का समाधान करने की भी चेष्टा की है।

इस पुस्तक के पाँचवें खण्ड में 'पत्रकारिता' में तत्संबंधी पाँच निबंध हैं। प्रत्येक निबंध की अपनी विषयगत महत्ता है। पत्र-पत्रिकाओं का मानव-जीवन में इसलिए बड़ा ही अधिक महत्त्व है, क्योंकि उनसे समाज, राष्ट्र और विश्व

में घटनेवाली घटनाओं का तो ज्ञान होता ही है, उनकी गतिविधियों के अतिरिक्त वैज्ञानिक और तकनीकी आविष्कार, खेल-कूद, राजनीतिक हलचल, रोजगार आदि के समाचार भी हमें मिलते हैं। शिक्षा, संस्कृति आदि पर भी इन पत्र-पत्रिकाओं में बराबर निबंध आते ही रहते हैं, जिनसे पाठकों को काफी लाभ पहुँचता है।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि भारतवर्ष में पत्रकारिता का आरंभ जेन्स आगस्टस हिंकी के बंगाल-गजट (29 जनवरी 1780 ई०) से हुआ जिसकी भाषा अँग्रेजी थी। कालांतर में विलियम डूएन ने भी एक समाचार पत्र निकाला था। किंतु सर टामस मुनेरा ने भारतवर्ष में अखबार के निकलने का विरोध करते हुए कहा- 'हमने भारत में अँग्रेजी साम्राज्य की नींव इस नीति पर रखी है कि हमने अपनी प्रजा को न तो कभी प्रेस की आजादी दी है और न देंगे। यदि यहाँ की सभी जनता हमारी तरह अँग्रेज होती तो मैं प्रेस की स्वतंत्रता की माँग स्वीकार कर सकता था, किंतु ये तो हमारे उपनिवेश के रहनेवाले यहाँ के नेटिव हैं, इनको प्रेस की आजादी देना हमारे लिए खतरनाक है। विदेशी शासन और समाचारपत्रों की स्वतंत्रता दोनों एक साथ नहीं चल सकते। स्वतंत्र प्रेस का पहला कर्त्तव्य क्या होगा? यही न कि देश को विदेशी चंगुल से स्वतंत्र कराया जाए। इसलिए अगर हिंदुस्तान में प्रेस को स्वतंत्रता दे दी गयी तो इसका जो परिणाम होगा, वह दिखाई दे रहा है।'

बाद में लार्ड हेस्टिंग्स ने सेंसरशिप को समाप्त कर अखबार के संपादकों के लिए कुछ नियम बनाये जिसके आधार पर सरकार पर आक्षेप करनेवाले निबंधों और लोक-हित को हानि पहुँचानेवाले समाचारों पर रोक लगा दी। इसका परिणाम यह हुआ कि पत्रकारों को कुछ राहत मिली और भारतीय पत्रकारिता ने एक नयी दिशा का समाधान किया।

फलतः बंगला भाषा का पहला मासिक पत्र सन् 1818 ई० में 'दिग्दर्शन' के नाम से निकला और दूसरा पत्र 'समाचार दर्पण' भी निकला। ये दोनों ही पत्र ईसाई पादरियों के थे।

तत्पश्चात् राजा राममोहन राय ने 1821 ई० में बंगला भाषा में 'संवाद-कौमुदी' और फारसी भाषा में 'मिरातुल अखबार' निकाला। उर्दू भाषा का सबसे पहला समाचार पत्र 1822 ई० में 'जामे जहाँनुमा' नाम से प्रकाशित हुआ।

जहाँ तक हिंदी अखबार की बात है, हिंदी का पहला साप्ताहिक अखबार कानपुर निवासी पंडित युगल किशोर ने कोलकाता से 1826 ई० में 'उदन्त मार्तण्ड' नाम से निकाला। तत्पश्चात् हिंदी के कुछ और समाचार-पत्र कोलकाता के विभिन्न भागों से निकलने लगे।

यहाँ भारतीय पत्रकारिता का विस्तृत इति और क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत

करना श्री सिद्धेश्वर जी का अभिप्रेत नही हैं।

समकालीन युग में निकलनेवाले अखबारों में तथ्य से अधिक अन्य बातें होती हैं। तभी तो इनके अर्द्धसरकारी, सरकारी और गैरसरकारी विज्ञापनों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है और समाज तथा देश को नयी दिशा देना इनका दूसरे दर्जे का कार्य हो गया है। आज कई कारणों से भारतीय मीडिया दुर्बल सिद्ध हो रही है। किसी भी प्रजातांत्रिक देश के लिए ऐसी मीडिया कदापि कल्याणप्रद नहीं हो सकती। एक स्वस्थ और स्वतंत्र समाचार पत्र के लिए श्री सिद्धेश्वर ने उसकी दस विशेषताओं की ओर संकेत कर अपनी अद्‌भुत बौद्धिक क्षमता का परिचय दिया है।

तदुपरांत श्री सिद्धेश्वर ने पत्रकारिता और साहित्य दोनों की तुलना एक ही सिक्के के दो पहलुओं से की है। उनके अनुसार, 'पत्रकारिता को साहित्य का अभिन्न अंग इसलिए माना गया है क्योंकि साहित्य भी समय-समय पर उपरोक्त महापुरुषों की मान्यताओं की कसौटी पर कसा जाता रहा है। कहानी, कविता, लेख, जीवनी-साहित्य, यात्रा-वृत्तांत, संस्मरण, भेंट-वार्ता, रेखाचित्र, रिपार्ताज आादि जहाँ एक ओर साहित्य की सामग्रियाँ है वहीं दूसरी ओर पत्रकारिता के साथ भी विधाएँ जुड़ती हैं।

इसमें संदेह नहीं कि पत्रकारिता तत्काल में शाश्वत की समायित में चिंतन की और अनित्य में नित्य की महती साधना है।

यद्यपि सिद्धेश्वर जी ने पत्रकारिता की परिभाषा अपने ढंग से दी है, मगर कोई भी परिभाषा अपने में तत्त्वों को समेटे रहती है। समाचार पत्र (पत्रकारिता) के मूल तत्त्व ग्यारह हैं (क)तात्कालिकता, (ख)निकटता, (ग)आकार, (घ)महत्त्व, (ड़)विविधता, (च)नूतनता, (छ)सत्यता, (ज)साहित्य, (झ)सुरुचि-पूर्णता, (ञ)वैयाक्तिकता और (ट)रहस्य।

केवल शुष्क तथ्यों से युक्त समाचार को समाचार नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त समाचार को समाचारत्व प्रदान करनेवाले तत्त्वों की संख्या पाँच हैं, यथा-(अ)जानकारी, (आ)नवीनता, (इ)बहुसंख्यकों की अधिकतम रुचि, (ई)उत्तेजक सूचना और (उ)परिवर्तन की सूचना।

पाठक उन्हीं समाचारों में विशेष रुचि रखता है जिसमें उसके हित की बात होती है। ध्यातव्य हो कि समाचार में आकर्षण की निम्नलिखित 25 विशेषताएँ होनी चाहिए, यथा- 1. नवीनता, 2. सामयिकता, 3. सामीप्य, 4. स्वहित, 5.धन, 6. कामवासना, 7. संघर्ष और रोमांस, 8. असाधारण, 9. वीर-पूजा, 10. यश, 11. रहस्य, 12. मानवीय गुणों का उद्रेक, 13. आविष्कार और अनुसंधान, 14. प्रगतिशीलता, 15. साहसिक कृत्य, 16. कुकृत्य, 17. नाटकीयता, 18. विशिष्टता,

19. परिणाम, 20. संस्कृति, 21. विश्वास, 22. स्वास्थ्य, 23. सुरक्षा, 24. बन्धुत्व और 25. सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन। उपरिलिखित विशिष्टताओं के आधार पर ही समाचार-पत्रों के पृष्ठ सुव्यवस्थित किये जाते हैं।

अँग्रेजी में पत्रकारिता के लिए जर्नलिज्म (Journalism) शब्द का प्रयोग किया जाता है। समकालीन युग में संपादन-लेखन को पत्रकारिता कहतें हैं। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में पत्रकारिता के संबंध में कहा गया हैं: This: the gathering and journalism of news, business, management of journals and advertising in all its and phases are often thought of as coming within the fold of journalism and following the advent of radio and television, there was trend toward including communication dealing with current affairs in the term., लेकिन पाश्चात्य संपादक डेविड बेवराइट ने पत्रकारिता को अभिव्यक्ति की आकर्षक कला मानते हुए कहा है कि इसका उद्धेश्य जन तथा जन नेताओं को लोक-हित के लिए प्रेरित करना है। उनके ही शब्दों मे-Journalism is communication. It is the event of the day,misted into a few word, sounds of pictures process into a few word, sounds of pictures processed by the machanics of communication to satisfy the human curiosity of a word, 2. इसी प्रकार सी०जी मूलर, जेम्स मैकडोनल्ड आदि ने भी पत्रकारिता को पारिभाषित करने का प्रयास किया है।

अनेक भारतीय विद्वानों ने भी पत्रकारिता की परिभाषा दी है। कृष्ण बिहारी मिश्र के अनुसार', जो अपने युग और अपने संबंध में लिखा जाय वही पत्रकारिता है।' श्री प्रेम नाथ चतुर्वेदी के शब्दों में; पत्रकारिता विशिष्ट देश, काल, परिस्थितिगत तथ्यों को अमूर्त-परोक्ष मूल्यों के संदर्भ और आलोक में उपस्थित करती है।' डॉ० भँवर खुराना ने पत्रकारिता की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है-'पत्रकारिता वह धर्म है जिसका संबंध पत्रकार के उस कर्म से है जिससे वह तत्त्कालिक घटनाओं और समस्याओं का सबसे अधिक सही और निष्पक्ष विवरण पाठकों के समक्ष उपस्थित करें।'

उपरिलिखित तथ्यों पर विचार करने के क्रम में हमें यह भी जान लेना चाहिए कि समाचार-पत्र का स्वरूप निर्धारण कैसे किया जाये। डॉ० लक्ष्मीकान्त पाण्डेय के अनुसार उसके स्वरूप-निर्धारण में निम्नलिखित क्रम से किया जाना चाहिए - 1. सामाजिक चेतना का दर्पण, 2. सूक्ष्म पर्यवेक्षण, 3. नीर-क्षीर विवेक, 4. मूल्यों की नियामिका, 5. परिवेश से संपृक्ति, 6. वैविध्यपूर्ण व्यापक क्षेत्र, 7. समाज की सुधारवादी दृष्टि, 8. संप्रेषण का माध्यम, 9. विशिष्ट उद्देश्य, 10. प्रेरणा एवं जागरूकता, 11. आधुनिक जीवन की निर्देशिका ओर 12. सामाजिक-राजनीतिक सेतु।

किंतु समकालीन युग के समाचार-पत्रों पर भी कुछ दवंग राज-नेताओं, चमचों, आतंकियों और धनाढ्यों का प्रभाव देखा जा रहा है। फलतः इनकी गरिमा मे ह्रास हुआ है और ये अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में भी अक्षम दृष्टि-गोचर हो रहे हैं।

इस पुस्तक के षष्ठ खण्ड 'राजनीति' में विभिन्न राजनैतिक विषयों से संबंधित निबंध ग्रथित हैं। प्रथमतः 'भारतीय राजनीति का वर्तमान परिदृश्य' क अंतर्गत सिद्धेश्वर ने यह बताया है। कुछ ऐसे भी नेता हैं जो राजनीतिक दलों को अपनी जेब में रखकर घूमते-चलते हैं। ऐसे नेताओं का अभिनंदन-वंदन जनता फूल-माला और चंदन से भले ही कर रही हो, मगर भीतर-ही-भीतर ऐसे नेताओं को वह मसखरा, चालबाज बेईमानी और आतंक का बोलबाला हो गया है। आपराधिक चरित्रवाले नेताओं की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। आज राजनीति में जातिवाद, संप्रदायवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद घुस गये है। कानून बनानेवाले नेता ही कानून को तोड़ कर उसकी धज्जी उड़ा रहे हैं। समस्त राजनीति भष्टाचार से ग्रस्त हैं। प्रायः नेता केवल स्वार्थ की राजनीति कर रहे हैं। ऐसे में समाज और देश का कल्याण भला कैसे संभव है।

तत्पश्चात् निबंधकार ने इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि समकालीन राजनीति में पारदर्शिता नहीं है क्योंकि राजनीति बिल्कुल विकृत हो गयी है।

तदंतर निबंधकार ने इस बात का पर्दाफाश किया है कि समयकालीन राजनेता आदर्श की तो लंबी लंबी बातें करते हैं। समाज-सुधार, देश-सुधार, ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठता, बंधुत्व और विकास आदि पर लंबे-लंबे व्याख्यान दे रहे हैं, मगर वे जनता या देश के हित में कुछ कर नहीं हैं। हाँ स्वंय अपने परिवार और चमचों-बेलचों के साथ सत्ता का सुख अवश्य ले रहे हैं।

इसके उपरांत निबंधकार ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि समकालीन राजनेताओं मे क्लीवता आ गई है और उनमें दृढ़ इच्छा-शक्ति का अभाव हो गया है इसी-लिए उनसे लोक-हित या विकास का काम नहीं हो पा रहा है। आज सरदार वल्लभभाई पटेल और राम मनोहर लोहिया जैसे नेताओं की आवश्यकता है। 'लोहिया के संकल्प का पहला चरण था-सत्ता न्यूनतम कार्यक्रम में सहमति और क्रियान्वयन ताकि आगे का मार्ग प्रशस्त हो सके और राजनीति दलदल की फिसलन से समाज को बचा सके। समकालीन राजनीति का यर्थाथ है कि वह स्वंय ही दूषित है। राजनेताओं के चलते ही उपेक्षित और दलित वर्ग आज भी उपेक्षित और दलित हैं, जगह-जगह दंगे हो रहे हैं, राज्य में विधि-व्यवस्था की स्थिति बिगड़ती जा रही है। जनता त्राहि-त्राहि कर रही है और राजनेता, अफसर-वैश्वीकरण के वातावरण में भी भ्रष्टाचार के चलते देश खोखला होता जा रहा है और इसकी अपेक्षित प्रगति नहीं हो पा रही है।

जिस देश के नेता और शासक वर्ग ने अपनी नैतिकता को तिलांजलि दे दी हो और विविध समस्याओं से जूझती जनता भयाक्रांत हो मुँह ताक रही हो, उस देश के सर्वतोन्मुखी विकास की कल्पना करना ही व्यर्थ है। यद्यपि भारत ने सूचना, विज्ञान, और तकनीक के क्षेत्र में काफी तरक्की कर ली है, अन्नोत्पादन के मामले में भी इसने प्रगति की है मगर दोषों के कारण देश का यथोचित उन्नयन नहीं हो पा रहा है।

जहाँ तक आरक्षण की बात है, इससे गरीब तबके के लोगों को कोई लाभ नहीं मिल सका हो क्योंकि इसका आधार जाति है। आज कुछ ऐसा वर्ग भी है जो लाठी, मुद्रा, विद्या और पद में बहुत आगे है, फिर भी वह जाति के नाम पर आरक्षण का लाभ उठा रहा है। ऐसी स्थिति में समाज का स्तर कैसे ऊपर उठ सकेगा।

समकालीन परिस्थिति में जनता भी कम दोषी नही हैं क्योंकि वह अन्याय का विरोध नहीं करती। परिस्थिति में परिवर्तन के लिए जनता को आगे आना होगा। जनता को जाति के नाम पर नहीं, पैसे के प्रलोभन में आकर नहीं; बल्कि सारी संकीर्ण भावनाओं को त्यागकर सुयोग्य उम्मीदवारों का चयन करना होगा। जो देश और समाज के उत्थान के लिए सतत कार्य कर सके। तभी तो कवि ने देश की जनता से कहा है-

देश हुआ आजाद, मगर इसका न हाय! कल्याण हुआ,
यहाँ ज्ञान-विज्ञान, कला, कृषि का न पूर्ण उत्थान हुआ,
जरा एकमत होकर सोचो तो सब भारत वासियों!
आज तुम्हें लग जाना है फिर इसके नव निर्माण में,
हिंदुस्तान तभी बन पायेगा इस हिंदुस्तान में।

देश के समकालीन यथार्थ का चित्र खींचते हुए सिद्धेश्वर का कथन है-भ्रष्ट राजनीति एवं नौकरशाही, कमजोर तथा जातिवादी नेतृत्त्व तथा निहित स्वार्थ के बोझ तले कराहते हुए देश के आँसू पोंछनेवाला कोई नजर नहीं आ रहा है। कहीं पर वैचारिक आंदोलन की प्रतिबद्धता नजर नहीं आती। आज स्थिति ऐसी विषम हो गयी है-

अपने ही जन यहाँ रच रहे नित्य नये षडयंत्र हैं,
नहीं मानता आज किसी का कोई हितकर मंत्र है,
बड़े-बड़े पद पर हैं खूनी पंजावाले आदमखोर,
चला रहे अपराधीजन ही सारे शासन तंत्र हैं।।

ऐसी स्थिति में देश भला उत्कर्ष के सोपान पर चढ़ ही कैसे सकता है?

यही कारण है कि श्री सिद्धेश्वर जी ने वर्तमान राजनीति में सुधार के लिए जिन उपायों की ओर संकेत किया है, उसके अनुसार कार्यान्वयन होना चाहिए। उनके विचारानुसार; जनता का अपना एक ऐसा मंच होना चाहिये जिसपर नेताओं और अधिकारियों को बुलाकर पूछा जा सके कि वे स्वंय क्या करते हैं! दरअसल उनकी कथनी और करनी में कोई सामंजस्य नही होता। जनतंत्र में होने के कारण जनता के लिए यह आवश्यक है कि जनता की गाढ़ी कमाई के पैसे से वेतनवाले शासकों और वोट पानेवाले सांसदों व विधायकों के कार्य-कलापों पर वह निगरानी रक्खें। जनता के सामने मंच पर आकर वह बतायें कि पद ग्रहण करने के बाद से उन्होंने पद के अधिकारों और कर्त्तव्यों के अनुसार अपने समाज, नगर, राज्य या देश के लिए आज तक कौन सा काम किया है। ऐसा करने पर राजनेताओं और शासकवर्ग द्वारा कोई गलत कार्य न किया जा सकेगा और वे लोग पूरी तत्परता तथा ईमानदारी के साथ अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकेंगे। तभी समाज और देश का सब प्रकार से हित हो सकेगा और प्रेय से श्रेय की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

जो भी हो, इतना तो मानना ही होगा कि सिद्धेश्वर-प्रणीत यह 'समकालीन यथार्थ बोध' हिंदी की एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है। प्रत्येक विषय के निरूपण में उन्होने अपनी गंभीरता, विद्वता और सह्रदयता का परिचय दिया है।

कुछ आलोचक ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि सिद्धेश्वर तो एक साहित्यकार हैं, फिर राजनीति पर उन्होंने अपनी तुलिका क्यों चलाई? मगर ऐसे आलोचकों को समझना चाहिए कि एक अच्छा साहित्यकार ही अच्छा राजनीतिज्ञ हो सकता है और जो अच्छा राजनीतिज्ञ होगा, राधाकृष्णन् आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। जिस मनोयोग से सिद्धेश्वर जी साहित्य-सेवा कर रहे हैं, उसी मनोयोग से वे राजनीतिक गतिविधियों में भी लीन परिलक्षित होते हैं।

निस्संदेह साहित्य, समाज एंव युगस्थिति में अनिवार्य संबंध है। इसी से साहित्य और राजनीतिक का पारस्परिक संबंध देश या समाज की राजनीतिक स्थिति का विवरण, विवेचन और आलोचना रहेगी ही।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि साहित्य के सभी कालों में राष्ट्रीय भावना का महत्त्व रहा है। जिस दिन साहित्य राजनीति से अलग हो जायेगा, उसी दिन राजनीति मर जायेगी। महाभारत, रामायण, पृथ्वीराज रासो, आल्ह खण्ड, कुरुक्षेत्र, भारती, ललकार आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

साहित्य का राजनीति से परोक्ष और अवांतर धारा, भाव-भंगिमा और सांस्कृतिक जीवन की चेष्टाएँ प्रतिफलित होती हैं, राजनीति में राष्ट्र की भौतिक उन्नति के प्रयत्न निहित रहते हैं। राजनीति यदि भौतिक अभ्युदय करे स्थायित्व

प्रदान करता है तो दोनों एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं-किंतु इनकी साधनाएँ और प्रयत्न एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। सिद्धेश्वर जी की साहित्य-साधना और राजनीति-साधना दोनों ही में इस बात को लेकर थोड़ा अंतर है कि साहित्य के माध्यम से वे राजनीतिक दुर्बलताओं की अर्गला पर प्रहार करना चाहते हैं और राजनीति की संवेदनाओं से अपने साहित्य को एक नया आयाम देना चाहते हैं। इस दृष्टि से अन्य समकालीन साहित्यकारों की तुलना में उनका महत्त्व बढ़ जाता है।

कुल मिलाकर, 'समकालीन यथार्थ-बोध' सिद्धेश्वर जी की एक विलक्षण रचना है जो समाज और राष्ट्र के लिए एक महती प्रेरिका शक्ति है।

डॉ॰ नवल किशोर प्रसाद श्रीवास्तव
पूर्व अध्यापक, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग,
आर॰एन॰कॉलेज, हाजीपुर (वैशाली)

●

संदर्भ ग्रंथ के रूप में संग्रहणीय पुस्तक

श्री सिद्धेश्वर हिंदी पत्रकारिता, साहित्य और समाज सेवा के क्षेत्र में एक ऐसा नाम है जिसे किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है।

'विचार दृष्टि' के यशस्वी संपादक के रूप में उनके संपादन को कौशल एंव विचार वैभव से हम सभी भली-भाँति परिचित हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनके विविध आयामी गंभीर चिंतन का सुपरिणाम है। एक प्रबुद्ध विचारक के रूप में आपने जन-जीवन से जुड़े अनेक सरोकारों को व्यापक फलक पर साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, पत्रकारिता, धर्म-कर्म और राजनीति जैसे चिरंतन और समसामयिक विषयों पर सर्वथा मौलिक रूप से विवेचन करके उन्होंने पुस्तक के रूप में विचार लोक को अनेक पुस्तकें उपलब्ध कराई हैं, पर इस पुस्तक का अभिगम (एप्रोच) उन सबसे भिन्न है। इन विषयों के विवेचन में 'पिष्ट पेषण' या 'चर्वित चर्वणम्' नाम मात्र को भी नहीं हैं। जो कुछ भी कहा गया हैं स्पष्ट, बेलाग और पूर्वाग्रहमुक्त है। वर्तमान समाज विसंगतियों-विद्रूपताओं का खान रहा है। ये विसंगतियाँ उपरोक्त सभी क्षेत्रों में हैं, इसलिए 'सत्यं शिवं सुंदरं' के लिए इनका निराकरण, समाधान और उन्मूलन जरूरी है। दरअसल, यह पुस्तक अपने कुशल रचनातंत्र के द्वारा हमारे मन की बात कहती दिखाई देती है। इस दृष्टि से यह पुस्तक विषय विवेचन और धारदार शैली के हिसाब से एक श्रेष्ठ पुस्तक है। विषय की सरलता, संप्रेषणीयता और बोधगम्यता इस पुस्तक की ताकत हैं। छह खण्डों में विवेचित विभिन्न साहित्यिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विषयों पर पर्याप्त प्रौढ़ चिंतन के स्पर्श से यह पुस्तक न केवल पठनीय या चिंतनीय है, अपितु एक संदर्भ-ग्रंथ के रूप में भी संग्रहणीय है। इस पुस्तक के अनुशीलन का कोई अन्य विकल्प संभव नहीं, जरूरी यह है कि यह पुस्तक न केवल सही हाथों में पहुँचे, बल्कि इसके पाठक उपयोगिता का भी सही मूल्याँकन कर सकें। श्री सिद्धेश्वर जी की इस पुस्तक का हिंदी जगत में सम्यक रूप से प्रवेश होगा और समाज को एक नई दृष्टि मिलेगी, ऐसी हमें आशा करनी चाहिए। सिद्धेश्वर जी, स्वस्थ, दीर्घआयुष्य और निरामय रहकर सरस्वती के भण्डार को भरते रहें, यही हमारी हार्दिक कामना है। अस्तु।

डॉ॰ नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'
प्राचार्य
अरविंद श्री महिला महाविद्यालय
सांगानेर (जयपुर)

भूमिका

वैचारिक क्रांति की भावभूमि : समकालीन यथार्थबोध

'विचार दृष्टि' एक विचारवान पत्रिका है और उसकी एक अलग विचारदृष्टि है। वैसी ही अलग किस्म की है विचार दृष्टि उसके सुविश संपादक सिद्धेश्वर की। सिद्धेश्वर जी से मेरा परिचय लगभग चार वर्ष पूर्व हुआ। एक लंबा पत्र उनकी ओर से आया था, जिसमें समकालीन चिंताओं से जुड़ी चिंतन की विविध भंगिमाएँ बिखरी हुई थीं। पत्र ने मुझे तुरंत सम्मोहित किया और पत्र-लेखक से आत्मीय परिचय के लिए जिज्ञासु भी किया। कुछ समय बाद राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था-'राष्ट्रीय विचार मंच' के नई दिल्ली में आयोजित वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर दो विषयों पर आलेख पाठ के लिए उन्होंने मुझे आमंत्रित किया। मंच-संकोची होने के बावजूद मैं उक्त अधिवेशन के पहले दिन के तीनों सत्रों में शामिल हुआ और इस प्रकार एक पूरे दिन के संग के दौरान मुझे सिद्धेश्वर भाई को नजदीक से जानने-परखने का सुयोग मिला। शांत-मृदुल स्वभाव के उनके व्यक्तित्व के पीछे एक कर्मठ दृढ़ता के दर्शन मुझे उनमें हुए। दो सत्रों में तत्कालीन दो मंत्रियों की उपस्थिति में भी सिद्धेश्वर जी का व्यक्तित्व कतई हतप्रभ होता नहीं दिखा। सभी अभ्यागतों-अतिथियों को वे समान रूप से पूरे अपनत्व से सँभाल रहे थे। कहीं कोई आपाधापी या विचलन या दुर्व्यवस्था उनके व्यवहार में मुझे नजर नहीं आई। एक सत्र की अध्यक्षता भी उन्होनें मुझसे करवाई, हालांकि मैं उनके लिए लगभग अपरिचित ही था, सिवाय इसके कि उन्हें उक्त अधिवेशन हेतु लिखे मेरे दोनों आलेख प्रभावी लगे थे।

पिछले दिनों एक वैचारिक संगोष्ठी में सम्मिलित होने हेतु वे हिसार आए। साथ में वे लाए अपनी मौलिक चिंतन की वानगी देती शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक 'समकालीन यथार्थबोध' की पांडुलिपि, जिसकी एक छायाप्रति मेरे अवलोकनार्थ वे मेरे पास छोड़ गए। पुस्तक से रू-ब-रू होना मेरे लिए एक अत्यंत सुखद अनुभुति का विषय रहा। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह पुस्तक समकालीन चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज सिद्ध होगी। किसी भी वैचारिक पुस्तक का आद्योपांत पाठ आसान नहीं होता: श्रम-साध्य भी होता है। किंतु इस पुस्तक को हाथ में लेने के बाद मेरे लिए इसे छोड़ना असंभव हो गया। गंभीर चिंतन इतना रोचक भी हो सकता है, मैंने पहली बार जाना। विचारोत्तेजना के चरमोत्कर्ष पर सहज आरोह इस पुस्तक के माध्यम से मैं पा सका। शैली प्रवाहमय-सहज-सरल,

कहीं वार्तालाप की, कहीं शोधपरक तो कहीं एकदम रिपोर्ताजवाली। आमतौर पर जिन बातों को जानकर भी हम नजरअंदाज कर देते हैं, उन्हें एक नई विचारदृष्टि देना, गंभीर किंतु भावप्रवण चिंतन से उन्हें समायोजित करना, समस्याओं के समाधान हेतु उनका पैना प्रखर विश्लेषण कर सुस्पष्ट करना, एक नई वैचारिक ऊर्जा से संयुक्त कर उन्हें एक आस्तिक, आस्थापरक आयाम देना-सच में, समकालीन यथार्थबोध के सभी संज्ञान इस पुस्तक में एक सीधी-सादी कहन के साथ प्रस्तुत हुए हैं। यही है इस पुस्तक की महती उपलब्धि। पुस्तक-लेखन के पीछे गाँधी-दर्शन की पृष्ठभूमि और जय प्रकाश बाबू के क्रांतिधर्मी चिंतन का परिप्रेक्ष्य स्पष्ट दिखाई देता है। एक आदर्शोन्मुखी नैतिक मूल्य उद्‌भासित जीवन-दृष्टि इस पुस्तक के सभी छह खंडों के पीछे है। इन छह खंडों में मनीषी लेखक ने आज के सभी चिंतन-विमर्शों; यथा साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, पत्रकारिता, धर्म-कर्म और राजनीति की प्रखर पड़ताल की है। विश्लेषण-संश्लेषण की एक अनूठी व्याख्या-प्रविधि इस पुस्तक की विशेषता है। हर खंड अपने आप में एक पूरा निबंध है और साथ ही पूरी पुस्तक के कथ्य को संदर्भित करता हुआ, उससे अनन्य रूप से जुड़ा हुआ भी। विवेचन का मुख्य संस्कार नैतिक मूल्यों के विघटन से उपजी उहापोह, आपाधापी वाली और अपसांस्कृतिक जीवन शैली है। लेखक ने जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों एवं संस्कारों पर अपनी पैनी दृष्टि डाली है, उन्हें परिभाषित किया है और उनके माध्यम से फिलवक्त का शिद्दत से जायजा लिया है। इस दृष्टि से पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व है। पुस्तक विचारोत्तेजक एवं पठनीय दोनों है, यही इसकी विशिष्टता है। आज के भोगवादी अनैतिक एवं अनाचारपूर्ण तत्कालबोध से ग्रस्त जीवन-दर्शन की इसमें बड़ी सशक्त व्याख्या हुई है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पुस्तक उस जनतांत्रिक सन्नाटे को तोड़ सकेगी, जिससे आज का हमारा समाज निष्प्रभ और निष्क्रिय हो रहा है। एक नए पुनर्जागरण की पूर्व पीठिका का काम यह पुस्तक कर सके, यही मेरी प्रभु से प्रार्थना है। इस क्रांतिकारी परिवर्तन का आवाहन करती भंगिमाएँ इस पुस्तक में सर्वत्र उपस्थित हैं। थोड़े संशोधन के साथ दुष्यंत कुमार का यह शेर इस पुस्तक की समझ और संभावना के लिए बिल्कुल मौजूँ होगा।

आज यह दीवार परदों की तरह हिलने लगी,
शर्त लेकिन (है) कि ये बुनियाद हिलनी चाहिए।

इन्हीं शब्दों के साथ मैं इस पुस्तक के विचारशील लेखक को अपना अनन्य साधुवाद देता हूँ।

कुमार रवीन्द्र, पूर्व प्राध्यापक, अँग्रेजी विभाग
क्षितिज, 310 अर्बन एस्टेट-2, हिसार-125005 (हरियाणा) फोन: 01662-247347

अनुक्रम

समर्पण........ 2
प्राक्कथन........ 4
अभिमत........ 11
शुभाशंसा........ 43
भूमिका........ 44
अनुक्रम........ 46

खण्ड-१: साहित्य

1. साहित्य क्या है?........ 48
2. साहित्य की उपादेयता........ 50
3. साहित्य का वर्तमान परिदृश्य........ 52
4. साहित्यकारों की भूमिका........ 54
5. भाषा और समाज........ 60
6. साहित्य और समाज........ 62
7. साहित्य का स्वरूप और उसकी विशेषताएँ........ 63
8. साहित्य का यथार्थ........ 64

खण्ड-२: शिक्षा

1. शिक्षा का अर्थ........ 66
2. शिक्षा का अतीत........ 68
3. शिक्षा का वर्तमान परिदृश्य........ 69
4. शिक्षा का उद्देश्य........ 72
5. शिक्षा की असलियत........ 73
6. प्रारंभिक शिक्षा और सौकर्य में सरलता की आवश्यकता........ 76
7. जनसंख्या नियंत्रण और शिक्षा........ 79
8. नैतिक शिक्षा........ 81
9. जीवन विज्ञान शिक्षा........ 85
10. नई शिक्षा नीति की अनिवार्यता........ 87

खंड-३: संस्कृति

1. विशिष्ट संस्कृति........ 89
2. संस्कृति संबंधी भारतीय अवधारणा........ 91
3. संस्कृति व्यापक अर्थबोधक........ 92
4. उपभोक्तावादी संस्कृति........ 93
5. सांस्कृतिक चेतना का विकास........ 96

अनुक्रम

6. पश्चिमी संस्कृति का आगमन 97
7. बदलती सामाजिक अवधारणाएँ 100
8. भाषा और संस्कृति 101
9. अँग्रेजी भाषा का प्रभुत्व 102
10. आक्रांताओं का अतीत 102
11. विविधता की महत्ता 105

खण्ड-४: पत्रकारिता

1. पत्र-पत्रिका की परिभाषा 108
2. लोकतांत्रिक व्यवस्था में पत्रकारिता की भूमिका 110
3. लघु पत्र-पत्रिकाओं की वर्त्तमान स्थिति 115
4. संपुष्ट आचार-संहिता के साथ प्रभावी कदम 115
5. पत्रकारिता और साहित्य 116

खण्ड-५: धर्म-कर्म

1. धर्म का कार्य 120
2. वैचारिक संकट का दौर 122
3. धर्म-कर्म का अभिप्राय 122
5. अविश्वास और पाखंड का वर्चस्व 125
6. सांप्रदायिकता का जहर 128

खण्ड-६: भारतीय राजनीति

1. भारतीय राजनीति का वर्त्तमान परिदृश्य 130
2. पारदर्शिता का अभाव 132
3. इच्छाशक्ति की कमी 132
4. जनता के पैसे पर ऐश 134
5. खोखला होता देश 136
6. राजनीतिक भ्रष्टाचार 137
7. नैतिकता को तिलांजलि 137
8. पोर-पोर से रिस्ता भ्रष्टाचार 141
9. परिवर्तनकारी राजनीति 145
10. प्रशासनिक तंत्र पर सवालिया निशान 146
11. आरक्षण का सवाल 147
12. विचारहीनता की स्थिति 152
13. जातिवाद के जाल में जकड़ी राजनीति 155

खण्ड–1

साहित्य

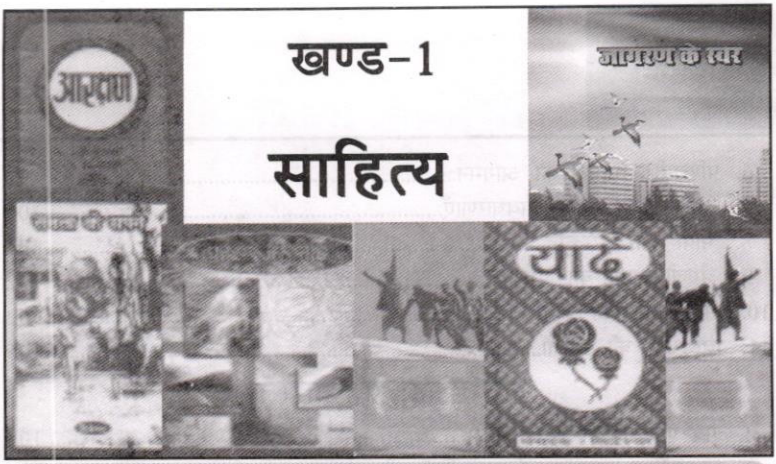

'साहित्य जीवन का विज्ञान है और हमें जीने की कला सिखाता है। जीवन का लक्ष्य है आनंद। साहित्य हमारे वैयक्तिक और समष्टिगत जीवन को अधिक आनंदमय बनाता है।'

–प्रेम स्वरूप गुप्त

साहित्य क्या है ?

'साहित्यस्य भावः साहित्यम्'– साहित्य में सहित का सत्व होता है, अर्थात् साहित्य सबके लिए हित की बातें करता है। साहित्य का दूसरा व्युत्पन्नार्थ 'हितेन सहितं साहित्य' किया गया है।

मानवीय संबंधों और मानव-व्यवहार को प्रमुखता देना सभी कलाओं का मूल सरोकार रहा है। साहित्य भी ऐसी कलाओं का मूल आधार है। साहित्य भी ऐसी एक कला है जिसमें संबंधों के माध्यम से मनुष्य को केंद्र में रखकर एक समानांतर संसार बुनने की प्रकृति ही अधिक दिखाई देती है। निरंतर बदलते सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दबावों की चुनौतियों को पार करने के लिए मनुष्य की सोच और कार्य-प्रणाली में लगातार परिवर्तन होता रहा है। साहित्य उसके व्यवहार को भी प्रभावित करता है और संबंधों पर भी पैबंद लगाकर उनके लिए नए धरातल व नई संवेदनाएँ तलाशने लगता है। साहित्य अप्रासंगिक हो गई इन अवधारणाओं से संबंधों में आ रही टूटन की संवेदनाओं के माध्यम से अपने समय के यथार्थ और प्रकृतियों की पड़ताल कहा जाता है।

साहित्य वह कला है जो समाज के स्वस्थ परिचालन के लिए जरूरी है। कलाएँ मानव को गहराई तक उद्वेलित और प्रभावित करती हैं। अतएव साहित्य में जो कुछ लिखा जाए उससे मानव मूल्यों की स्थापना और उसे बल मिलना चाहिए।

हिंदी साहित्य के मर्मज्ञ डॉ॰ महेश चंद्र शर्मा की मान्यता है कि समाज-मंगल के मार्ग पर ले जानेवाले लेखन को साहित्य कहते हैं। इसी प्रकार श्री प्रेम स्वरूप गुप्त का मत है कि साहित्य जीवन का विज्ञान है और हमें जीने की कला सिखाता है। जीवन का लक्ष्य है आनंद। साहित्य हमारे वैयक्तिक और समष्टिगत जीवन को अधिक आनंदमय बनाता है।

सुप्रसिद्ध कथा लेखिका चित्रा मुद्गल दुर्दशाओं का निरपेक्ष वर्णन करने के साथ-साथ उनका समाधान भी तलाशती हैं और कुछ अवसरों पर प्रेरणाएँ भी जगाती हैं। इससे रचनात्मक का गहरा आभास होता है।

जाने-माने चिंतक मस्तराम कपूर के अनुसार साहित्य की मूल्यवत्ता इसी में है कि वह निरंतर आनुभाविक यथार्थ के उन आयामों का विस्तार करता चलता है जो दूसरे सभी आयामों के परीक्षण की कसौटियाँ हमें देते चलते हैं और इस प्रकार हमारे लिये यह संभव बनाते हैं कि हम उन दूसरे आयामों को आत्मसात कर सकें-अपने अनुभव और अपनी चेतना का विस्तार कर सकें।

साहित्य के कार्य अथवा प्रयोजन के संबंध में पाश्चात्य विद्वान बैडले का कथन है- It's nature is not to be a part, not yet a copy of the real world but to be a world by itself, independent, complete and autonomous, and to posses it fully you must enter that world, confirm its laws and ignore for the time the beliefs, aims and particular conditions which belong to you in the other world of reality, [1]

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने तो साहित्य के उद्देश्य के संबंध में स्पष्ट शब्दों में कहा है -

'न तन सेवा, न मन सेवा, न जीवन और न धन-सेवा।
मुझे है इट जन-सेवा, सदा सच्ची भुवन-सेवा।।' [2]

डॉ. देवी शंकर अवस्थी ने अपने 'रचना और आलोचना' शीर्षक लेख में लिखा था--'इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि रचना काल में कोई

---

1. Ed. Spensoar - Art and Literature,
Vol. 1 Minerva Press, Burmingham, Page No. 38
2. प्रो॰ विश्वनाथ प्रसाद- कला एवं साहित्य : प्रवृत्ति एवं परम्परा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्र॰ सं॰, पृ॰ सं॰ 25 से उद्धत

कृतिकर्ता का अनुभव ही है, परिचय जानने के बाद उसका स्वतंत्र अस्तित्व हो जाता है और उस समय रचनाकार एक विशिष्ट पाठक मात्र रह जाता है। उस रचित कृति को छोड़कर हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं होता जिसके आधार पर उस सचेत अनुभव या अभिप्राय को हम प्रामाणिक रूप मे जान सकें। वास्तव में कृति लेखक द्वारा दिया गया कोई संदेश विशेष न होकर एक स्वतंत्रसत्ता है।''

फलत: आज साहित्य राजनीति का इश्तहार बनता जा रहा है। किंतु मुझे ऐसा लगता है एकात्म मानव के समुदय होने पर राजनीति को भी साहित्य के अश्वारोहन से उतारा जा सकता है। कारण कि साहित्य राजसय का एक ऐसा अश्व है, जिसकी पीठ पर सवारी नहीं की जा सकती। बहुत दिनों तक धर्म ने भी साहित्य के अश्व की पीठ पर सवारी की भी और साहित्य को कमजोर किया था। लेकिन अंततोगत्वा, साहित्य के अश्व ने धर्म की सवारी को पृथ्वी पर पटक दिया और साहित्य से सभी धर्म उतार दिए गए। साहित्य एक सर्वात्मबोध और तीव्र संवेदना का अनुभूति-स्थल तथा अभिव्यक्ति-परिसर है। यही 'सहितस्य भाव: साहित्यम् है।

साहित्य की उपादेयता:

विचारों की अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप ही समाज में बदलाव आता है। साहित्य के माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति द्वारा सामाजिक परिवर्तन को अंजाम दिया जा सकता है। प्रेमचंद, प्रसाद व पंत जैसे साहित्यकारों ने उच्च कोटि की साहित्य-रचना द्वारा समाज को नई दिशा प्रदान की है। साहित्य एक ऐसी विधा है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपना/अपने समाज का और राष्ट्र का मूल्याँकन कर सकता है। चिंता का विषय यह है कि इन दिनों इस विधा के साथ भी राजनीति प्रारंभ हो गयी है।

साहित्य जीवन को संवारने का एक संस्कार प्रदान करता है। सामाजिक जीवन में प्रेम, दया, ममता, करुणा-जैसे मूल्यों का बहुत महत्त्व है। साहित्य में इसलिए इनकी पूर्ण प्रतिष्ठा की आवश्यकता है और सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन को विघटन से बचाने के लिए यह आवश्यक है।

रचनाकार आज उपलब्ध सांस्कृतिक विरासत की सर्वश्रेष्ठ कृतियों का चयन कर उन्हें सावधानी और संवेदनशीलता के साथ नए पाठकों के समक्ष अपने लेखन के माध्यम से प्रस्तुत कर सकता है। मौलिक साहित्य अथवा वाचिक परंपरा से बहुत कुछ ग्रहण करके लिखित रूप में पेश करना हर जिम्मेदार लेखक के लिए जरूरी है, क्योंकि साहित्य और संस्कृति के स्वरूप समाज में अभिव्यक्त होते हैं, किंतु आज के साहित्य में वैसा कुछ दीख नहीं रहा है। समाज के सारे

सद्गुण, साहित्य का सारा अमृत और संस्कृति के सारे प्रतिमान सूखते और टूटते प्रतीत होते हैं। साहित्य और संस्कृति समाज की धरोहर है जिसकी रक्षा करता है प्रबुद्धजन। सांस्कृतिक चेतना तथा सुदृढ़ एकता उनके प्रयास से ही संभव है। साहित्य में समाज प्रतिबिंबित होता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार कला में संस्कृति। किंतु दुःखद स्थिति यह है कि प्रबुद्धजनों की सारी जिम्मेदारी आज कटाकट कॉफी हाउसी बहसों तक ही सिमट गयी है। बड़े-से-बड़ा हादसा भी उन्हें एक इंच ठेल नहीं सकता। कवि स्वामीनाथ ने 'समीकरण' नामक अपनी कविता में शिल्प के एकदम नए प्रयोगों की बानगी देते हुए कहा है-

'नेता + अफसर + लेखक + पत्रकार + देश की चिंता = कॉफी हाउस'

शब्द को ब्रह्म कहा गया है, जिसका सर्वश्रेष्ठ रूप है साहित्य। साहित्य के जरिए तत्काल कोई सामाजिक क्रांति भले न होती हो, लेकिन मनुष्य की नियति बदलने और तय करने में 'शब्द-ब्रह्म' की भूमिका से कोई इनकार भी नहीं कर सकता। ऐसा यदि नहीं होता तो दिल्ली के एक गरीब घर में जन्में सुधीर शर्मा जो लंबे अरसे तक अपराध की अँधी गलियों में भटकने और ब्राउन शुगर के सेवन और तस्करी के आरोप में पिछले दस साल से गोवा सेंट्रल जेल में सजा काटने के दौरान साहित्यिक पत्रिका 'पहल' के संपादक ज्ञान रंजन, सुप्रसिद्ध साहित्यकार विष्णु प्रभाकर, निर्मल वर्मा, अमृता प्रीतम, किरण वेदी, महेश भट्ट, विभूति नारायण राय और कमलेश्वर सरीखे कई लेखकों के सौजन्य से किताबों की दुनिया के संपर्क में आये और उसके बाद जैसे उनकी जिंदगी ही बदल गई। इन दिनों पूर्वी उत्तर प्रदेश में सांस्कृतिक बदलाव की अलख जगा रहे सुधीर शर्मा का कहना है कि अपनी घुटन और अँधेरे से मुझे मुक्ति साहित्यिक रचनाओं से मिली। रचनाओं ने ही मुझे प्राणवायु और उजाला दिया। मैंने इस बात को आत्मसात कर लिया है कि रचना जीवन के अँधकार से जूझनेवाली मनुष्यता की आत्मिक शक्ति है।

वस्तुतः साहित्य समाज के लिये उपयोगी ही नहीं, उसका रक्षक भी होता है, क्योंकि वह समाज के सदस्यों को पशुरूप जीवन-स्तर से ऊपर लाता है।

वैसे भी सृजन के किसी न किसी दौर में हर सर्जक को इस सवाल से टकराना पड़ता है कि हम जो रच रहे हैं उसका मकसद क्या है? यह काम हम आखिर कर क्यों रहे हैं? कहानी, कविता, संस्मरण, नाटक, जीवनी या साहित्य की किसी भी विधा को अभिव्यक्ति के किसी भी दृश्य-श्रव्य माध्यम का प्रयोजन क्या है? निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि सृजनात्मक कलाओं का प्रयोजन मात्र अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक

समस्याओं का निराकरण या किसी समुदाय-संगठन के उद्देश्यों को हासिल करने का जरिया बनना होता है। साहित्य का प्रभाव आनुवंशिक नहीं होता, न ही इनका पैतृक हस्तांतरण संभव होता है। उन्हें तो खुद ही अर्जित करना होता है। साहित्य से न सत्ता प्राप्त की जा सकती है, न मोक्ष। साहित्य सिर्फ मुक्ति देता है-अपनी भीतरी वर्जनाओं और अवरोधों से अपने आपको और सामाजिक विषमताओं से दूसरों को। साहित्य एक ऐसा तत्त्व है जो दिलों को ही नहीं, बल्कि कौमों और सारी मानवता को जोड़ता है। साहित्य इंसान को हर प्रकार के भेदभावों से पैदा होनेवाली संकीर्ण मानसिकता से ऊँचा उठने की प्रेरणा देता है।

साहित्य का वर्तमान परिदृश्य

साहित्य की वर्तमान स्थिति बहुत गर्व करने लायक नहीं है और साहित्य का पाठक वर्ग भी सिकुड़ता जा रहा है। जीवित समाज के लिए यह चिंता की बात है। अतएव समाज के जागरूक और संवदेनशील लोगों को इस बारे में सोच-विचार कुछ करना चाहिए। हम आज यह महसूस कर रहे हैं कि न केवल रचे जा रहे साहित्य की गुणवत्ता, वैविध्य और प्रभावोत्पादकता में गिरावट दिखाई दे रही है, बल्कि पाठकों की साहित्यिक अभिरुचि और अपेक्षाओं का भी स्वरूप बदलता चला जा रहा है। यदि समाज की भूमिका साहित्य की रचना में महत्त्वपूर्ण है तो साहित्य की भूमिका समाज को दिशा देने में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। साहित्य समाज का दर्पण है। यह मुहावरा काफी प्रसिद्ध है, किंतु इससे कुछ ऐसा भाव निकलता है कि साहित्य की भूमिका केवल समाज को प्रतिबिंबित करना है, उसका निर्माण करना नहीं।

राजनैतिक स्तर पर भले ही साहित्य स्वयं क्रांति न करें, पर क्रांति की भूमिका के विरचन में साहित्य की भूमिका असंदिग्ध है। क्रांतिकालीन साहित्य को बाद में भी, जब नवीन समाज-रचना का महनीय कार्य संपन्न करना होता है तब वह अपनी श्रेष्ठ ज्ञानात्मक संचेतना की प्रस्तुति से मानव का, समाज का, समाजशास्त्रियों का तथा राजनेताओं का मार्गदर्शन करता है। यह बात ठीक है कि इस मार्गदर्शन में साहित्य की आदेशात्मक नहीं, निर्देशात्मक भूमिका होती है। लेकिन तब उसका निर्देशन, भी शब्दायित-सांस्कृतिक भावों की उपस्थिति से आदेशात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेता है। महर्षि वेदब्यास प्रणीत महाभारत का अंश 'श्रीमद्भग्वद्गीता' और 'शांतिपर्व', 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' और कामन्दक का 'नीतिसार' इसका ज्वलंत प्रमाण है।

यदि आज के संदर्भ में हम अपनी वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दशा पर विचार करें तो हमें वर्तमान जड़ता, गतिरोध और चतुर्दिक व्याप्त घोर निराशा के कारणों की खोज अपने साहित्य में करनी पड़ेगी। इस समय हमारे देश में साहित्य की स्थिति सबसे निम्न मानी जाती है। समाज में प्रतिष्ठा आज उसे दी जा रही है जिनका साहित्य से कोई लगाव नहीं-जैसे राजनेता, फिल्मी सितारे, सफल व्यापारी, शेयर दलाल। और तो और यहाँ तक कि डाकू, तस्कर, अपहरणकर्ता तथा अपराधी तत्त्व भी प्रतिष्ठित हो रहे हैं।

यह बात ठीक है कि सत्ता का साहित्य से संबंध प्राचीन काल से रहा है और सत्ता और राजनीतिज्ञों ने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए साहित्य और साहित्यकार का सदैव ही दुरुपयोग किया है, किंतु आज जिस प्रकार साहित्यकारों को सत्ता ने अपनी चपेट में ले लिया है और उनका जिस तरह उपयोग हो रहा है वह चिंता का विषय है। आप इस बात से अवगत हैं कि समाज के निर्माण और उसकी रचना में साहित्य शक्तिशाली एवं प्रभावशाली अस्त्र का काम करता है। साहित्य की इस महत्ता से सभी युगों के सत्ताधारी वर्ग सदा परिचित रहे हैं और उन्होंने साहित्य के इस योगदान को सदैव मान्यता प्रदान की हैं इसलिए सत्ता सदैव साहित्य को अपने प्रभाव क्षेत्र के अंतर्गत लाने के लिए प्रयत्नशील रही है और आज भी उसके दृष्टिकोण में कोई अंतर नहीं आया है। तभी तो वर्तमान समय में नये ढंग से चालीसे और रामायण लिखे गये हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्वस्थ एवं गतिशील समाज का लक्षण नहीं है। साहित्य और कला की गतिविधियाँ मात्र यदि भौतिक जरूरतों तक सीमित रहती हैं, तो उसे बीमार और मरणासन्न समाज ही कहा जा सकता है। आज स्थिति यह है कि हमारा साहित्य भी पश्चिमी सभ्यता से प्रेरणा पाकर लिखा जा रहा है और पश्चिमी सभ्यता को आधुनिक सभ्यता माना जाता है, क्योंकि उसमें भौतिक जरूरतों को और उनकी आपूर्ति को निरंतर बढ़ाने पर ही अधिक जोर दिया है। इसके परिणाम स्वरूप अमेरिका और यूरोप के अन्य देशों में भोगवादी प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है। जहाँ विचारों के अंत की बातें होने लगी हैं, वहाँ लोगों को लगता है कि अब कुछ करने या पाने के लिए शेष नहीं बचा है इसलिए वहाँ साहित्य और कला में भी एक ठहराव आ गया है।

हमारे देश में भी पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता की पकड़ आजादी के बाद समाज के मध्य वर्ग पर मजबूत हुई है। इसका कारण औपनिवेशिक गुलामी के हमारे संस्कार और औपनिवेशिक भाषा के प्रति हमारा मोह रहा है। समाज का मध्य वर्ग जिससे हमारे अधिकांश लेखक और बुद्धिजीवी आते हैं, पश्चिमी देशों

की विचार प्रणाली से इतना प्रभावित रहा कि हम आधुनिकता के नाम पर पश्चिमी देशों का अनुसरण करते रहे और विचार करने में प्राय: असमर्थ रहे। साहित्य और कला में यह मौलिक कमी विशेष रूप से अखरती है। अँग्रेजी में सोचने और लिखनेवालों में शायद ही कोई लेखक या समीक्षक मिलेगा जो अपनी बात किसी विदेशी लेख का उद्धरण दिए बिना कह सकता है। उन्हें अपने कथन पर विश्वास नहीं होता इसलिए उन्हें हर बात की पुष्टि किसी विशेष लेखक के उद्धरण से करनी पड़ती है। उपभोक्ता संस्कृति का गुलाम बने समाज में साहित्य कलाओं का विकास अवरुद्ध हो जाता है, क्योंकि कला के प्रति लोगों की जिज्ञासा मर जाती है। समाज के लिए साहित्यकार इसलिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि वह अपनी रचना द्वारा पाठक को भी मूलभूत अधिकारों स्वतंत्रता, समता और बँधुत्व को जीने का अहसास दिलाता है। मेरा ख्याल है कि साहित्य वही महत्त्वपूर्ण होगा जिसकी अभिव्यक्ति का अभिप्राय सार्थक हो और यह तभी संभव है जब साहित्य आज के सामाजिक सरोकारों से जुड़े।

साहित्य में किसी राष्ट्र के प्राणों की वास्तविक धड़कन और जन आकांक्षाओं की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। साहित्य किसी राष्ट्र का नब्ज है जिसके ऊपर अँगुली रखकर राष्ट्र जनजीवन की वास्तविकताओं को परखा जा सकता है। जो बात एक साधारण आदमी अनुभव करके भी कह नहीं पाता, साहित्यकार उसे अभिव्यक्ति प्रदान कर अपने अनुभवों को सार्वजनीन को निजी बनाता है। किंतु अभिव्यक्ति के इस विशेष गुण के नाते यदि साहित्यकार अपने को समाज से ऊपर या बड़ा मान बैठे तो वह व्यक्तिवादी भटकाव में उलझकर पथ-भ्रष्ट हो जाएगा, उसके दृष्टिकोण सीमित हो जाएँगे और वह जनसामान्य से दूर हो जाएगा।

साहित्यकारों की भूमिका:

एक सच्चा साहित्यकार दृष्टा और सृष्टा दोनों होता है। वह यथार्थ का दृष्टा होता है और आगत का सृष्टा। वह समाज का सबसे अधिक संवदेनशील, सहृदय और भावुक तथा सबसे अधिक प्रबुद्ध और सचेतन इकाई है। इसलिए जन सामान्य के दु:ख-दर्द और उत्पीड़न की ओर उसकी दृष्टि सबसे अधिक जाती है। वह उससे द्रवित होता है। उसकी यह सहृदयता और संवदेनशीलता ही उसे जन-सामान्य से जोड़ती है। सामाजिक यथार्थ और परिस्थितियाँ उस पर अपना प्रभाव डालती हैं जिसके परिणामस्वरूप जन-सामान्य की अनुभूतियों को उसके दु:ख दर्द और उत्पीड़न को अभिव्यक्ति और वाणी प्रदान करता है। मनुष्य की

करुणा जब सृजन में संवेदित होती है, तब रचनाकार के व्यक्ति से निकलकर रचना सबके लिए सार्थक बनती है। समाज की वर्तमान आर्थिक एवं मानवतावादी दृष्टि से जो नवीन साहित्य सृजन हो रहा है, उसमें भी दलित चेतना, स्त्री विमर्श तथा साधनहीन और साधन संपन्न की प्रतिस्पर्धा में रचित न्याय के लिए संघर्षरत पीढ़ी का दर्द उजागर हो रहा है जिसका सम्यक अध्ययन नई-नई गवेषणाओं को जन्म देगा तथा नए निष्कर्ष प्रतिपादित करेगा।

साहित्यकार का काम युग निर्माता का काम है। इसके साहित्य में वर्तमान परिस्थितयों का चित्रांकन तो रहता है, वह भविष्य का मार्ग भी अपनी कृतियों द्वारा प्रशस्त करता है। यह तभी संभव हो सकता है जब रचनाकार समाजोपयोगी परंपराओं और नैतिक मान्यताओं को अपने साहित्य में स्थान दें। साहित्य के उद्देश्य पर कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद ने लिखा है-''साहित्य का आधार जीवन है। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिये अनंत है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिये सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमिति है।''

यदि हम साहित्यिक वादों की रूढ़ अवधारणाओं से हटकर बात करें तो यह भी कहा जा सकता है कि साहित्यकार सदैव व्यक्तिवादी होता है, क्यांकि वह विभिन्न सत्ताओं से, जो समाज का ही हिस्सा होती हैं, व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों या मानव चेतना के धर्म की रक्षा करता है। सत्ताएँ विभिन्न प्रकार के प्रतिबँध और अनुशासन लगाकर उसकी चेतना को खोखला करती हैं, साहित्य उस जर्जर होती चेतनाओं को पुनः समृद्ध करता है। ऐसा वह स्वतंत्रता, समता आदि की मूल प्रवृत्तियों को सतत् सक्रिय और जागरूक बनाए रखकर करता है। वह समाज के वर्चस्व और आधिपत्य की प्रवृत्तियों के विरूद्ध व्यक्ति की लड़ाई लड़ता है। इसलिए साहित्यकार स्वभावतया व्यंक्तिवादी होता है।

रचनात्मकता के केंद्र में चूंकि 'मनुष्य' है, इसलिए रचनाकार का 'धर्म' और 'कर्म' दोनों इसी इकाई की चिंता से प्रारंभ और इसी पर अंत होना चाहिए। इस दृष्टि से उन्हें मनुष्य-विरोधी सत्ताओं का सामना करने के लिए मजबूर होना होगा, क्योंकि उनकी जवाबदेही किसी राजा अथवा सामंत के प्रति नहीं, बल्कि समाज के प्रति है। इसके अतिरिक्त सदैव की तरह राज-सत्ता और अर्थसत्ता के बीच चोली-दामन का साथ आज भी कायम है। कहना मुश्किल है कि कौन किसे संचालित-नियमित कर रहा है। दरअसल यह एक ऐसा उद्योग है जिसका अपना संजाल है, माफिया है, बाजारवाद है, अपने नियम व तौर-तरीके हैं जिनके बीच रचनाकार एक मोहरा भर है। यह एक ऐसा बाजार है, जो विद्रोही चेहरों और मुद्राओं की भी कीमत जानता है और लगाता है। क्योंकि वह वही लिखते जहाँ पैसा मिलता है और वही लिखते-बोलते हैं जो पैसेवाला कहता है या चाहता है।

पैसेवाले को वह अद्वैतभाव से देखते हैं।

पद, पुरस्कार, अनुदान, सुविधाएँ और सम्मान ये तमाम पद्धतियाँ हैं रचनाकार की बोली लगाने की। रचनाकार के समक्ष सबसे बड़ी कठिनाई है कि इस सबसे खबरदार रहे, अपेक्षाओं के पीछे ठेलते हुए वह आगे बढ़े। सच कहा जाए तो रचनाकार के सामने समस्या होती है बाहरी रूकावटों से ज्यादा भीतरी कमजोरी से लड़ने की और आत्मछल से बचाव की। सत्ता सरकार की हो या अखबार की, समर्पण उसकी पहली शर्त है। सही पक्ष का चुनाव रचनाकार का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व भी होता है और कठिनाई भी। इस ख्याल से देखा जाए तो रचनाकार का सबसे बड़ा सेंसर उसका अंतर्मन होता है। वहीं से तय होता है कि उसे पहरुए की भूमिका अख्तियार करनी है या मोहरे की। इस बात का हिसाब-किताब उसे स्वयं करना है और उसे स्वयं से सवाल करते रहना है-'अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया?' इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध गीत रचनाकार डॉ. देवेन्द्र आर्य के अद्यतन प्रकाशित गीत संग्रह-'मैं उगते सूरज का साथी हूँ' की 'जिंदगी लिखने लगी है' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ मुझे बरबस स्मरण हो आती हैं-

'मानता हूँ आज मेरे पाँव कुछ थक से गए हैं
और मीलों दूर भी इस पंथ पर कबतक चलूँगा?
पर अभी तो आग बाकी है अलावों को जलाओ,
मैं सृजन के द्वार पर नव-भाव की वंशी बनूँगा।'

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज से 25-30 साल पहले साहित्य का पाठक सजग था, साहित्य के प्रति, अपनी भाषा के प्रति सम्मान का भाव उसमें अधिक था। आज उस सम्मान के भाव का अभाव दिखता है जिसके लिए मेरी समझ से आज की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ जिम्मेदार हैं। यह भी संभव है कि हमारे चिंतन व लेखन की कमजोरियाँ हों, क्योंकि उपभोक्ता संस्कृति के विरोध में साहित्य की जो सबसे बड़ी लड़ाई है वह आज नहीं लड़ी जा रही है। यही कारण है कि आज का सद्साहित्य जहाँ एक ओर पाठक को आकर्षित नहीं कर पा रहा है वहीं दूसरी ओर अश्लील एवं घटिया साहित्य के पाठकों की संख्या दिनानुदिन बढ़ रही है। निश्चित रूप से कहीं न कहीं हमारा आज का लेखन हमारे संदर्भ से कट गया है और उसकी ओर हमारी कोई चिंता नहीं है। हालांकि यह भी सत्य है कि यह स्थिति हिंदी साहित्य में ही अधिक देखने को मिल रही है। नहीं तो सुनील गंगोपाध्याय और महाश्वेता देवी जैसी हस्तियों को लोग चाव से पढ़ रहे हैं तो गुजराती, तमिल, तेलुगु तथा मलयालम साहित्य की ओर पाठकों का झुकाव ज्यादा है।

हिंदी साहित्य के प्रति रुचि की कमी का और चाहे जो कारण हों, मुझे लगता

है कि बौद्धिक रूप से रचनाकारों का कमजोर होना, परेशान और धीमें पड़ना भी कारण है, क्योंकि साहित्य में भी सुविधा और साधनों का दबाव है। जो गाँव-कस्बे का रचनाकार है वह इसे अच्छी तरह जानता है। दूसरी बात यह है कि आज सच्चाई विखंडित हो रही है, वह अबूझ और असह्य हो रही है, इसलिए उसकी पकड़ पाने के लिए रचनाकार को अधिक चौकस होने की आवश्यकता है और उसे एक वैचारिक शक्ति भी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक लेखन एक हद तक आधुनिक उन्मेष से सदैव प्रेरणा प्राप्त करता रहा है और समाज के एक सदस्य होने के नाते लेखक ने अपने समुदाय, अपने समाज, अपने देश का परीक्षण व निरीक्षण किया है। आत्मनिरीक्षण के क्षणों में जब कविता, कहानी, निबंध तथा विचार उत्पन्न होता है तब किसी अनुभव को किसी कठघरे में नहीं बाँधा जा सकता।

आज की बदलती हुई सामाजिक परिस्थिति में तेजी से विलुप्त होती जा रही साहित्य कलाओं पर यदि समय रहते सुधि साहित्यकारों का ध्यान न गया तो निश्चय ही हमारी भविष्य की पीढ़ियाँ साहित्य की अमूल्य निधियों से हाथ धो बैठेगी और उसके लिए दोषी हमारे आज के रचनाकार ही होंगे।

प्राचीन साहित्य, पारंपरिक लोक साहित्य और आधुनिक सांस्कृतिक परंपरा सभी के अंदर प्रचुर सामग्री है। जरूरत केवल इस बात की है कि लेखक इन सारी सामग्री को समाज तक पहुँचाने का दबाव महसूस करे। अगर हम एक नया समाज बनाना चाहते हैं तो बुद्धिजीवी समाज, लेखक, रंगकर्मी सभी को इस ओर ध्यान देना होगा। आज ऐसा महसूस किया जा रहा है कि आधुनिक साहित्य में बौद्धिक व्यापकता के बावजूद भी वह हृदय को छूने में असमर्थ है। जो लेखन आम आदमी के दिल में जगह न बना सके उसकी सामाजिक उपादेयता ही संदिग्ध मानी जाएगी। स्वतंत्रता संग्राम के वर्षों में लेखकों की रचनाएँ हर जबान पर होती थीं जिसका सदा अभाव आज के लेखन में देखा जाता है।

हिंदी कविता और प्रख्यात पत्रकार विष्णु नागर के कथनानुसार आधुनिक या समकालीन साहित्य रचना कोई शर्म की बात नहीं और यह गलतफहमी है कि साधारण जन आधुनिक रचना के मर्म को नहीं समझते। उन्हें सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा हुआ और सीमित रुचि का मालिक नहीं समझना चाहिए। जनता तक पहुँचना हर आधुनिक साहित्यकार के लिए एक चुनौती है, लेकिन इस चुनौती को स्वीकार करने का लोकप्रियतावादी समझ के आगे आत्मसमर्पण करना नहीं है।

दादा धर्माधिकारी, यदुनाथ थत्ते, व्यंकटेश माड गुलकर और काका कालेलकर ऐसा गद्य लिखते थे कि जो सबकी समझ में आता था और सबके दिलों को छूता भी था। इस बात की बहुत जरूरत है कि लेखक समाज अपनी परंपरा में छिपी इस भाषा की नए सिरे से खोज करें। लेखकों को अपने को जनता से

नजदीक आने की आवश्यकता है। जनता की शब्द-संपदा, अपना जीवन, अपनी सोच और संवाद का अपना तरीका होता है। लेखक इसको और व्यापक बना सकता है। शब्दों का चयन बड़ी सावधानी से करना चाहिए और जनता की शब्द-संपदा, शब्द चेतना, मुहावरे और सूक्तियों से अपने लेखन को समृद्ध करना चाहिए। रचनाकारों, सांस्कृतिक एवं सामाजिक संगठनों तथा स्वयं सभी संस्थाओं के बीच एक लगातार संवाद की जरूरत है। ये कथन हैं ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता बांग्ला कवि सुभाष मुखोपाध्याय, अय्या पणिकर तथा मंगलेश डबराल जैसे जाने-माने लेखकों के।

एक बात और इधर आज के लेखन में देखने को मिल रही है कि आज के लेखन में आदर्श का प्रस्तुतीकरण तो है, किंतु लेखक के जीवन से उसका कोई वास्ता नहीं। मसलन मात्र कलम-चला लेने से कोई आदर्श उपस्थित नहीं हो सकता और न ही ऐसे समाज का सुधार ही हो जाता है। बड़ी कुर्बानियाँ देनी पड़ती हैं, अपने ज़ज़्बात का गला घोटना पड़ता है। रंगीन सपनों के भँवर में गोते लगाना आसान है, मगर सच्चाई के धरातल पर चलना बहुत कठिन है और खासकर तब जब सच कड़वा हो। साहित्यकार के द्वारा साहित्य में प्रस्तुत आदर्श केवल कोरे कागजों को मैला करने तक ही सीमित है। कलम चला देना बात अलग है पर सच्चाई के ध रातल पर चलकर कंटीले रास्तों को तय करना सबके वश की बात भी नहीं। अतएव साहित्य के वह आदर्श महज खोखलापन दर्शाता है।

सफल साहित्यकार उसे ही करार दिया जा सकता है जिसने समाज की हकीकत को कागज के पन्नों पर उतारने का प्रयास किया है। आधुनिक साहित्य के माध्यम से मौजूदा हिंदुस्तान की जो तस्वीर बन रही है वह निश्चय ही धुँधली दिख रही है और जिसने इस समय पूरे समाज को अपनी पकड़ में ले लिया है। आम आदमी की सोच और मानसिकता में क्रांतिकारी बदलाव आया है किंतु नयी नस्ल में भटकाव आया है।

कहा जाता है कि किसी भी समाज में जब आतंक और शोषण बढ़ता है तो आमतौर पर उसके साहित्य में हास्य तथा व्यंग्य का सैलाब-सा आ जाता है, किंतु ऐसा कुछ आज के साहित्य में देखने को बहुत नहीं मिल रहा है। वैसे कवि सम्मेलनों में हास्य एव व्यंग्य को अवश्य अधिक तरजीह दी जा रही है। प्रेमचंद की कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो, जो हमें गति और बेचैनी पैदा करें, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

सृजन करनेवालों को विषपान करना ही पड़ता है। पहलकदमी करनेवाले को

असफलताओं का दोष भी अपने उपर लेना पड़ता है। किंतु आज के साहित्यकारों में ऐसा देखा जा रहा है कि वे न तो विषपान करने को तैयार हैं और न ही अपनी असफलताओं के लिए अपने ऊपर दोष लेने के लिए तैयार हैं। इसीलिए उनके साहित्य में जो कुछ है वह थोथी नैतिकता, भाग्यवाद, दुनिया से वैराग्य, पलायनवाद, परलोकवाद और शास्त्रवाद की निरंकुशता ही प्रशंसा और व्यक्तिगत भावनाओं के अलावा कुछ भी नहीं है। टूटती रुढ़ियों से पीड़ित होकर वे समकालीन समाज को रुढ़िवादी बनाए रखने के लिए हाथ पैर मारते रहते हैं। ऐसे घोर व्यक्तिवादियों का सामाजिकता से क्या वास्ता? आज तो ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो समाज के लोगों को व्यक्तिगत उलझनों से लेकर सामाजिक उलझनों तक को सुलझाने में सहायक हो, जिससे पाठक आधुनिक परिवेश में अपना जीवन सुचारू रूप से जीने के साथ-साथ अपने राष्ट्र की प्रगति के बारे में सोच सकें। आज देश में ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो करोड़ों लोगों के मानसिक स्तर को ऊँचा उठाने, व्यक्ति को व्यक्ति के दुःख-सुख के प्रति संवेदनशील बनाने, उनको ज्ञान, मोह और कुसंस्कार से मुक्त कराने में सहायक सिद्ध हो। हमें आज ऐसे साहित्य की रचना करनी चाहिए, जिससे मनुष्यता को लाभ पहुँचे, परस्पर मानवीय प्रेम की भावना के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो और कोई अपने अधिकारों से वंचित न हो। वैसे भी व्यक्ति के बिना अभिव्यक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। साहित्य तो व्यक्ति से शुरू होकर व्यक्ति पर रुकता है।

वस्तुत: साहित्य और साहित्य लेखक देश, धर्म और काल तीनों से परे होता है। किसी सीमा में बँधकर वे नहीं रह सकते। समाज में जो घटित होता है, उसमें जीनेवाले साहित्यकार चाहे वे किसी जाति या संप्रदाय के हों भला उससे अप्रभावित कैसे रह सकते हैं? यह बात ठीक है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है, पर दर्पण का काम चेहरे के खदो-खाल को छुपाना या संवारना नहीं, बल्कि ज्यों-का-त्यों दिखाना होता है। बदसूरत चहरों को सुधारकर दर्शनीय बनाने का काम दर्पण का नहीं है। इसके लिए आपको ब्यूटीशियन या ब्यूटी पार्लरों की सेवा लेनी पड़ेगी। साहित्य का काम समाज में व्याप्त कुरीतियों, बुराईयों, गजारयटों और बज-बजाहटों की तरफ इशारा करना है। नाबदानों की सफाई करना साहित्य का काम नहीं है। इसके लिए समाज सुधारक हैं, राजनीतिज्ञ हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि साहित्य समाज के सिर्फ श्याह पक्ष को उजागर करता है, बल्कि हकीकत यह है कि श्याम-श्वेत तस्वीर की तरह के दोनों पृष्ठों को आपके सामने रख छोड़ता है।

ऐसे समय में जब रक्षक ही भक्षक बन बैठा हो तो मध्यवर्गीय साहित्यकार

तो अपने ड्राइंग रूम में बैठकर देश-दुनिया, गाँव-देहात, शहर-महानगर की रोजमर्रा की जिंदगी से खुद को दरकिनार नहीं कर सकता है। वह तो हस्तक्षेप करेगा ही और यही हस्तक्षेप असली साहित्य होगा। आज के साहित्यकार को देश, समाज व जनता का साहित्यकार होना चाहिए। प्रसन्नता इस बात की है कि अब साहित्यकार उद्वेलित हो रहे हैं पर बहुत धीमी गति से।

किसी रचनाकार की वह रचना ही है जो मनुष्य से मनुष्य को जोड़ने का माध्यम है। साहित्यकार विभिन्न राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर अपनी कृतियों के माध्यम से कटाक्ष कर जनमत तैयार करने का काम करता है। उसकी यह जनशिक्षा पूरी तरह निरपेक्ष होती है। बिना साहित्यिक स्रोतों के इस्तेमाल के किसी देशकाल के मर्म और यथार्थ को नहीं समझा जा सकता है। साहित्यकार की रचना संघर्ष के जद्दोजहद में बूँद-बूँद करके अपनी अस्मिता संजोती है। उसे अपनी प्रशंसाओं और सम्मोहनों से बचकर अनवरत अपने ईमान की बात करना होता है। हर रचनाकार अपने समय का एक रूपक तलाश करता है। इसी कारण से ऐसा कभी नहीं रहा कि समाज पर साहित्यकारों ने अपने साहित्य के माध्यम से कोई प्रभाव नहीं डाला हो। इसलिए ऐसे समय में जब देश तथा विश्व के धरातल पर आतंकवाद की वजह से जो परिवर्तन लोकतांत्रिक मूल्यों के खिलाफ घटित हो रहे हैं, उन्हें आज के साहित्यकारों को समझना होगा और अपने लेखन में उन्हें समेटना होगा। पुराने विचार और मूल्यों में परिवर्तन लाना होगा। साहित्यकारों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि संस्कृति, सभ्यता और सांप्रदायिकता के बीच एक पुल बनाएँ और विभिन्न वर्गों में बँटे जनमानस को समरस और सुरुचिपूर्ण बनाकर उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास करें।

वैसे भी समाज और राष्ट्र के नवनिर्माण में साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। स्वस्थ साहित्य रचना राष्ट्र की सेवा है, क्योंकि पुस्तकें साहित्य की वाहक होती हैं। इसी से मनुष्य में संस्कार और व्यक्तित्व का सुंदर निर्माण होता है। आज के दौर में राजनीति, समाज, उद्योग-व्यापार अथवा शिक्षा आदि के हर क्षेत्र में जिस तेजी से मानवीय मूल्यों का क्षरण हो रहा है उसमें दिशा दिखाने में साहित्य अपनी भूमिका निभा सकता है जिससे न केवल मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होगा, बल्कि विकास का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

भाषा और समाज

भाषा और समाज के बीच गहरे ताल्लुकात होते हैं। अगर किसी भाषा की पैठ व्यापक समाज की ड्योढ़ी से लेकर आँगन तक है तो चाहे वह सिंहासन पर बैठी हो या मचिया पर, कोई भी उसका बाल बाँका नहीं कर सकता। लेकिन यदि

वह अपने अभिजात अहं को सबसे ऊपर रखने के कारण शास्त्रीयता, कुलीनता की सीमाएँ नहीं लांघती तो सोने का सिंहासन होने के बावजूद कोई उसकी ओर देखेगा भी नहीं सिवाय उन कुछ विप्रों, भांटों-चरणों के, जो उसकी खाते और गाते हैं।

सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य ने अपने भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति के लिए 'भाषा' का अविष्कार कर लिया। भाषा की प्राप्ति से मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य पदवाच्य हुआ। इसी भाषा के सहारे मनुष्य अतीत की स्मृतियों, वर्तमान की योजनाओं और भविष्य के स्वप्नों को साहित्य में उतारता है। वाणी का वरदान पाकर मनुष्य प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हुआ। लेखनी की शक्ति से समृद्ध हो वह ऊँचे से ऊँचे शिखर के समकक्ष पहुँचा।

साहित्य समाज का एक कोणवाला नहीं,बल्कि त्रिकोण दर्शन हुआ करता है उसमें एक ही समय में अतीत की झाँकी पाकर उससे अपने वर्तमान का नापतौल तो कर ही सकते हैं, भविष्य का दिशा-निर्देश भी पा सकते हैं। यह अनुमान भी लगा सकते हैं कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के स्तर पर हम किधर जा रहे हैं। साहित्य रूपी त्रिकोण दर्पण अपने सजग पाठकों को इस सबका अहसास एक ही समय में करा सकता है। इसी सब को ध्यान में रखकर साहित्य को चिरसंचित, भाव-विचार और ज्ञान का गत्यात्मक कोष कहा जाता है। वह सुदूर अतीत से भाव-विचार, उन्नति-अवनति की गाथा और जलधारा अपने तटबंधों में प्रवाहित करता हुआ हमारे वर्तमान को तो सींचता ही है, सींचते हुए भविष्य के खलिहानों की ओर निकल जाता है।

कश्मीर से कन्याकुमारी और सौराष्ट्र से कामरूप तक के सभी लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं में समसामयिक विचारधारा से अभिभूत होकर अपनी-अपनी भाषाओं में समान चिंतन की अभिव्यक्ति की है। भावों का आदान-प्रदान उत्तर से दक्षिण तक निरंतर चलता रहा। गोदावरी के कल-कल नाद को यमुना के सैकत तट पर पहुँचाकर सूरदास के श्याम सुंदर को रूप-माधुरी से परिचित करानेवाले महाप्रभु वल्लभाचार्य आँध्र के थे, जिन्होंने मध्य काल के हिंदी साहित्य को नई स्फूर्ति दी।

जब दक्षिण में रामानुज, रामानंद और वल्लभ जैसे आचार्य भक्ति का संदेश दे रहे थे, तभी उत्तर में कबीर, विद्यापति, सूर, सुलसी, मीरा, रसखान, नंददास, रहीम, दरिया साहब, जन्ददास पल्टू और रैदास आदि जैसे अनेकों संत-कवियों ने अपनी मधुर वाणी से जन-जन तक भक्ति का संचार किया। समस्त भारतीय साहित्य पर दृष्टि डाली जाए तो उस काल की सभी भारतीय भाषाओं के कवियों की रचनाओं में समकालीन भक्ति का यह स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई देता है।

समाज में व्याप्त धार्मिक संकीर्णता रूढ़िवाद, ऊँच-नीच और अँधविश्वास

के खिलाफ जो आवाज उत्तर में कबीर ने उठाई थी, उसी आवाज को दक्षिण में कवि बुरहानुद्दीन जानम ने भी सन् 1544 से 1583 की अवधि में अपनी रचना सुख सुहेला में स्वर दिया-

'पढ़ पढ़ जनम गँवाया, मूरक रहें सुन रोज।
पुरान, पुस्तक देख ढंढोले, बसे निराला नीज।।'

इसी तरह 15वीं सदी में असम प्रदेश के शंकर देव जैसे निर्भीक संतों ने भी यही आवाज उठाई-

जप-तप तीरथ करसि गया, काशी बासि वयरू गँवाई।
जाति योग युगुति मति मोहित, बिन भक्ति गति नाहीं।।

पश्चिम में गुजरात के नरसिंह मेहता, अरवा और दयाराम आदि संत कवियों ने भी प्रेम और भक्ति का संदेश जनता को दिया। महाराष्ट्र में मराठी के ज्ञानेश्वर, नामदेव, गोरा, एकनाथ, तुकाराम और रामदास जैसे संतों की वाणियों में भी स्वर मुखरित हुआ। पंजाब में गुरुनानक देव ने भी सच्चे ब्रह्म की उपासना और मानव-प्रेम की ज्योति जलाई। इसी प्रकार बंगाल में चैतन्य महाप्रभु और चंडीदास कर्नाटक में पुरंदरदास, कनकदास और सर्वज्ञ तथा उड़ीसा में पंच वैष्णवों के भक्ति स्वर भी जनमानस को रस-विभोर करते रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस देश में भाषाई विविधता के बावजूद उसमें भावात्मक तथा सांस्कृतिक एकता का सूत्र सदा से विद्यमान रहा है, क्योंकि सभी की आत्मा एक ही रही है जिससे समाज को सही दिशा मिली और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिला।

साहित्य और समाज

साहित्य समाज का जीवन है। वह उसके उत्थान-पतन का साधन है। साहित्य वह आलोक है, जो देश को अँधकाररहित और समाज के प्रभावहीन नेत्रों को संप्रभ रखता है। साहित्यकार समाज का जागरूक प्रहरी होता है-इसकी वजह से उसे स्वयं जागृत रहकर समाज को जगाए रखना होता है। साहित्यकार नीर-क्षीर विवेकी हंस के समान होता है, जो समाज में व्याप्त बुराइयों का परित्याग कर अच्छाईयाँ ग्रहण करता है और उन्हें अपनी सौंदर्यानुभूति द्वारा अभिव्यक्त करता है। वह केवल जीवन और समाज का चित्र ही उपस्थित नहीं करता, बल्कि एक सुधारक एवं मार्गदर्शक की भाँति उनकी त्रुटियों की ओर संकेत कर उन्नति का मार्ग भी प्रशस्त करता है। साहित्य सामाजिक भावनाओं का सरोवर है। साहित्यकार समाज की विसंगतियों का विष पीता है, उगलता नहीं, क्योंकि विष पीना उसका

धर्म होता है और विष न उगलना ही उसका सामाजिक सरोकार। इस प्रकार हम पाते हैं कि साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से जीवन की प्रत्येक सम-विषम परिस्थिति में समाज को आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है।

साहित्य स्वरूप और उसकी विशेषताएँ

साहित्य की सृजन-प्रेरणा जीवन में ही मौजूद होता है। जीवन की खट्टी-मीठी अनुभूतियाँ उसकी कृतियों में कलात्मक अभिव्यक्ति पा जाते हैं। साहित्यकार के दुःख-सुख सर्वथा व्यक्तिगत मान लिए जाते हैं। सच तो यह है कि उसके अनुभव, प्रवणता, संवदेनशीलता और यहाँ तक कि उसकी वैयक्तिकता भी सामाजिक घात-प्रतिघातों की निर्मिति होती है। साहित्यकार के अपने व्यक्ति के साथ सामाजिकता का अंश असंपृक्त रूप से जुड़ा है और इसी कारण से वह निम्न चार दिशाओं में साहित्यकार कम, सामाजिक अधिक दिखता है--1. अपनी भावनाओं, अपने भावों एवं विचारों को नाना रूपों में अभिव्यक्त करने की लालसा, 2. अपने परिवेश, आसपास के लोगों के रहने-सहने आदि में रुचि लेना 3. अपने निकट के संसार को समझना तथा 4. शून्यता के सहारे एक आदर्श कल्पना लोक का निर्माण करना। मनुष्य जीवन के चारों तत्त्व साहित्य-सृजन के प्रेरक तत्त्व हैं।

काल और स्थान की सीमाओं का अतिक्रमण करनेवाला यह साहित्य मानव-जीवन के ऐसे रागात्मक धरातल पर ही विचरता है कि जहाँ जीवन के सभी विरोध समाप्त हो जाते हैं और साहित्यकार एक उन्मुक्त संसार की सृष्टि करता है। अग्नि पुराणकार ने कवि को इस संसार का स्रष्टा कहा है।

''अपारे काण्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।''

साहित्य जैसी निश्छल और पवित्र अमृतधारा को अपने विकास और पोषण के लिए साहित्य के नाम पर क, ख, ग तक न जाननेवाले राजनीति व्याघ्रों की की ओर तरसती दृष्टि से देखना पड़ता है। आधुनिक साहित्य में व्याप्त विघटनाकारी तत्त्व इसी भयानक परिस्थिति के परिचायक हैं। इस भयावह स्थिति से अपनी और साहित्य की रक्षा करना ही साहित्यकार का सबसे बड़ा दायित्व है। साहित्य जीवन से अलग अस्तित्त्व का कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, अपितु साहित्य जीवन की ही अभिव्यक्ति है। साहित्य में जीवन के सुख-दुःख, राग-विराग चिरसंचित पड़े रहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक युग के साहित्य में तत्त्कालीन सामाजिक, नैतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की छाप होती है। साहित्यकार जो कुछ देखता और अनुभव करता है, उसे शब्दों में बाँध देता है और फिर उसकी आत्मानुभूति सार्वजनीन बन जाती है। साहित्यकार अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों का परिष्कार और संस्कार करके उन्हें सार्वजनीन रूप प्रदान कर देता है, जिसमें

पराजित और विभ्रांत मानव-मन शांति और मधुरता को प्राप्त होता है। पढ़नेवालों की आत्मा का संस्कार होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है। आत्माभिव्यक्ति के आनंद का आस्वाद पाने के लिए यह आवश्यक है कि आत्माभिव्यक्ति पूर्णतः निश्छल हो। इस निश्छल अभिव्यक्ति का आशय सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति से है। अभिव्यक्ति की निश्छलता परिष्कृत आनंदनुभूति की जननी होती है। प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी कथाकार जैनेन्द्र के शब्दों में--''यह आनंदानुभूति 'अहं' का विसर्जन नहीं, 'अहं के संस्कार' का परिचायक है। अहं के संस्कार की यह प्रक्रिया-रागात्मिका वृति के प्रसार की प्रक्रिया है जब मनुष्य के व्यक्तिगत सुख-दु:ख का समष्टिगत रूप धारण कर लेती है, 'स्व' के संकुचित कटघरे से निकलकर 'पर' के उन्मुक्त धरातल पर आसीन हो जाती है और तब साहित्यकार के 'अहं' तथा समाज के समष्टिगत 'अहं' में कोई भेद नहीं रह पाता।''

साहित्य की निम्नांकित पाँच प्रमुख विशेषताएँ हैं- 1. स्मरणशीलता, 2. संक्रमणशीलता, 3. प्रयत्नशीलता 4. प्रगतिशीलता और 5. संवेदनशीलता

साहित्य स्मरणीय इसलिए है कि वह जीवन को सार्थक बनानेवाले क्षणों की अमिट स्मृतियाँ अपने साथ रखता है। संक्रमणशीलता इसलिए कि मनुष्य का हृदय मूलतः उदात्तता को अपनाना चाहता है, श्रेष्ठ बनना चाहता है और सबको अपनाना चाहता है। प्रयत्नशीलता इसलिए कि साहित्य सर्वदा मनुष्यों में अपनत्त्व व सौभ्रातत्त्व की भावना को बनाए रखने को प्रयत्नशील है। वह यह भी प्रयत्न करता है कि मानव-जीवन में घटित सभी प्रकार की घटनाओं को सही रूप में प्रस्तुत करे। प्रगतिशीलता इसलिए कि मनुष्य के साथ होनेवाला ज्ञान का दीपक निरंतर अज्ञान के अँधकार को छाँटता रहता है। अँधकार की तमिस्रा को हटाकर वह आलोक की ओर अग्रसर होता है। साहित्य का कार्य मुख्यतः सत्य की खोज करना है और सत्य को प्रस्थापित करना है। संवेदनशीलता के कारण ही साहित्य पाठकों के अंतर्मन को प्रभावित कर पाता है और उसमें संप्रेषणीयता आती है।

साहित्य का यथार्थ

साहित्य का सामूहिक प्रयास मानव मन, सोच और कर्म को दिशा देता है। स्वतंत्रता का इतिहास साक्षी है कि अँग्रेजी हुकूमत के खिलाफ हमारी लड़ाई का आधार सांस्कृतिक हस्तक्षेप ही था। विदेशी कपड़ों को जलाए जाने का आंदोलन हो या सुधारवादी आंदोलन, सभी भारतीय समाज और संस्कृति से जन्मे थे और वहीं स्थापित थे। हमारे देश में ही साहित्य और संस्कृति ने सार्थक हस्तक्षेप किए और सामज को दिशा दी, परिवर्तन की ओर मोड़ा।

दरअसल हमें इस सवाल का उत्तर खोजना होगा कि सोच या विचार की

गुलामी से लड़ने की ताकत हमें कहाँ से मिलती है। निश्चय ही साहित्य और संस्कृति इसके स्रोत हैं। इस बात का जवाब तो हमें देना ही पड़ेगा कि साहित्य और कलाएँ मानव समाज में क्या-क्या और कौन-कौन सी भूमिकाएँ निभाती हैं? इस प्रश्न की हम जितनी अधिक खोज करेंगे, उतनी अधिक समझदारी का विकास होगा।

सच तो यह है कि सांस्कृतिक हस्तक्षेप का उद्देश्य लोगों को संवेदनशील बनाना, जागरूक बनाना, क्रिया-प्रतिक्रिया के लिये प्रेरित करना और आंदोलित करना होना चाहिए। यह ध्यान रहे कि यह एक लंबी और जटिल प्रक्रिया है और कम ही समय में इससे बहुत अधिक उम्मीद करना संभवत: ठीक नहीं होगा। हम इस बात से अवगत हैं कि समाज विरोधी सत्ताएँ पहले मनुष्य को संवेदनहीन बनाती हैं और, उसके बाद कुछ और करती हैं। हमारे समाज में भी संवेदनहीन बनाए जाने की प्रक्रिया बहुत गति से चल रही है। धर्म, संप्रदाय और जाति की पहचान ने मनुष्य की पहचान नष्ट कर दी है। पिछली आधी शताब्दी से अधि क के अनुभव ने हमें अच्छी तरह बता दिया और सिखा दिया है कि कलात्मकता के अभाव में बड़ा से बड़ा संदेश भी प्राणहीन हो जाता है। सांस्कृतिक हस्तक्षेप में निरंतरता अनिवार्य है। प्राय: सांस्कृतिक हस्तक्षेप जीवन का हिस्सा नहीं बन जाते और यही कारण है कि उनका पर्याप्त प्रभाव समाज पर नहीं पड़ पाता। सामान्यीकरण सांस्कृतिक हस्तक्षेप की धार को कुंद कर देता है। इसलिये लोक जीवन और लोक शैली से जुड़ी कलात्मक मान्यताओं को समझना सांस्कृतिक हस्तक्षेप के लिये आवश्यक है। दरअसल आजादी के बाद समाज और शासन व्यवस्था की जैसी कल्पना की गई थी, वह तीसरे दशक के बाद ही ढहती नज़र आने लगी। तथाकथित विकास और आधुनिकीकरण ने मूल्यों, नैतिकताओं और व्यक्ति को महत्त्व देनेवाली प्रवृत्तियों को ही हास्य-व्यंग्य की चीज बना दिया। जो संवदेनाओं का गला घोंट सके, वे समय के साथ तालमेल बैठाकर 'सफल' हो गए। जिनके भीतर संवेदनाएँ बची रहीं, संकट उनके लिए हो गया। साहित्य इस बची हुई संवेदनावाले व्यक्ति का आत्ममंथन ही है। आजादी के बाद की सांस्कृतिक व मूल्यगत पतनशीलता पर साहित्यकार तीर की नजर रखे हुए है। वह मौजूदा व्यवस्था से किसी भी प्रकार संतुष्ट नहीं दिखाई देता है। बेहतरी की कामना उसके भीतर कुलबुलाती रहती है। यही कारण है कि वह अपने साहित्य और कला के माध्यम से हस्तक्षेप करता है। वह उम्मीद करता है कि वे जहाँ हैं, वहीं सुधार में जुट जाएँ, क्योंकि व्यवस्था को बदलने की क्रांतिकारिता उसके भीतर जोर मार रही है। उसकी यह चाह कोरा आदर्श नहीं है, उसका व्यवहारिक पक्ष भी उसके पास है।

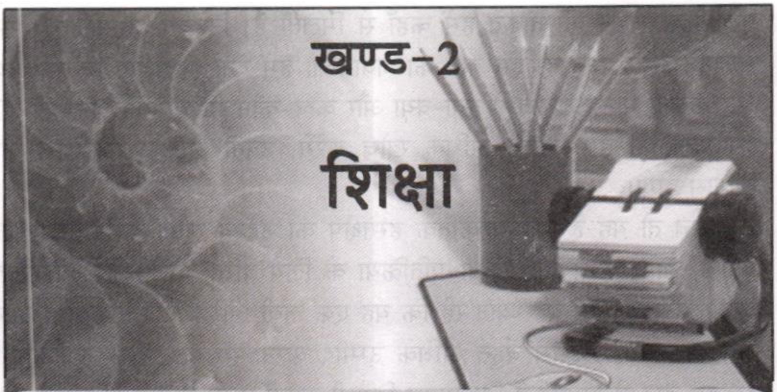

खण्ड-2

शिक्षा

'शिक्षा वही है जिससे चरित्र का निर्माण होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होता है'

- स्वामी विवेकानंद

शिक्षा का अर्थ:

शिक्षा संस्कृत के शिक्ष् धातु से बना है। 'शिक्ष्' का अर्थ विद्या प्राप्त करना है। जो ज्ञान प्राप्त कर चुका है वह शिक्षित है। शिक्ष् बनने की प्रक्रिया शिक्षा है। अँग्रेजी में शिक्षा का पर्यायवाची शब्द 'एजूकेशन' है। यह शब्द लैटिन के तीन शब्दों से, जो प्राय: समानार्थी समझे जाते हैं, मिलकर बना है। ये शब्द हैं-एजूकेटम, एजूसीयर और एजूकेयर। इन शब्दों का अर्थ अंदर से बाहर आना, आगे बढ़ाना या आगे ले जाना है। शिक्षा का सामान्यत: प्रयोग सिखाना, निर्देशन देना, बढ़ाना, आगे ले जाना आदि से लिया जाता है।

भारतीय आचार्यों ने विद्या या शिक्षा को ज्ञान की आँख कहा है और बताया है - 'नास्ति विद्या समम् चक्षु:'। फिर उन आचार्यों ने 'विद्याडमृत मश्नुते' कहकर इसको और अधिक महत्ता प्रतिपादित की है।

आम तौर पर 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग हम सीखने से करते हैं। चाहे हम शाला में कुछ सीखें या प्रकृति अथवा समाज में रहकर सीखें वह शिक्षा है। इस प्रकार शिक्षा के दो स्वरूप विकसित होते हैं-एक तो वह शिक्षा जो शालाओं अथवा विशिष्ट वातावरण में सीखने से संबंध रखता है और दूसरा, जो अनायास राह चलते, बात, कार्य करते या जीवन जीते हम कुछ सीखते चलते हैं। इन दो

स्वरूपों में शिक्षा के दो अर्थ छिपे हैं-एक सीमित और दूसरा व्यापक।

जहाँ तक शिक्षा के व्यापक अर्थ का सवाल है गाँधी, मोहम्मद, ईसा, महावीर, बुद्ध तथा गुरुगोविंद सिंह आदि संत-महात्मा ये सब शिक्षक थे। इनकी शिक्षा शाला की चहारदीवारी में बंद होकर नहीं रही। इसने समस्त समाज और देश में व्याप्त होकर जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित किया। सड़क चलते, ठोकर खाकर हम कुछ सीख लेते हैं। दूसरों का कुछ कार्य देखकर भी हम कुछ सीख लेते हैं। इस तरह का सीखना अनायास होता है, किसी निश्चित क्रम या प्रणाली के आधार पर नहीं होता। ऐसी शिक्षा व्यापक स्वरूप व्यक्त करती है।

टी० टेमंड का मानना है कि व्यापक अर्थ में शिक्षा विकास का क्रम है, जिससे व्यक्ति धीरे-धीरे अपने को विभिन्न प्रकार से भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक वातावरण के अनुरूप बना लेता है। वस्तुत: जीवन ही शिक्षा देता है। व्यक्ति अपने व्यवसाय, पारिवारिक जीवन, मित्र मंडली, विवाद, पितृत्व, मनोरंजन, यात्रा आदि के द्वारा भी शिक्षित होता है। इसी प्रकार जे० एस० मेकेंजी का मत है कि व्यापक अर्थ में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जो आजीवन चलती रहती है और जीवन के प्राय: प्रत्येक अनुभव से उसके भंडार में वृद्धि होती है। वास्तव में व्यापक अर्थ में शिक्षा जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है।

जहाँ तक शिक्षा के सीमित अर्थ का प्रश्न है, इस अर्थ में शिक्षा एक पूर्व निश्चित योजना द्वारा प्रदान की जाती है। यह विद्यालय या महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय की चहारदीवारी तक ही सीमित रहती है। इसमें सीखने वाले-सिखाने वाले का अपेक्षित लक्ष्य सामने रहता है। यह शिक्षा निश्चित अवधि, निश्चित पाठ्यक्रम व प्रद्धतियों तक सीमित रहती है। यह शिक्षा विद्यार्थियों को निश्चित ज्ञान, कौशल और योग्यता प्रदान करने के लिए दी जाती है ताकि दक्षता प्राप्त कर वे समाज की उपलब्धियों को और आगे बढ़ाने में अपना योगदान दे सके। जे० एच० मेकेंजी के अनुसार सीमित या संकुचित अर्थ में शिक्षा का आशय हमारी शक्तियों के विकास और सुधार के लिए चेतनापूर्ण किए गए प्रयासों से लिया जाता है। वास्तव में इस अर्थ में शिक्षा पुस्तकीय शिक्षा है, जिसे अध्यापन या निर्देशन भी कहा जा सकता है।

शिक्षा का वास्तविक अर्थ दोनों ही अर्थों में निहित है। इन दोनों का समन्वय कर ही हम शिक्षा के वास्तविक अर्थ को जान सकते हैं। इस अर्थ में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्ति को उसकी नैसर्गिक शक्तियों के विकास में सहायता पहुँचाती है तथा उसे अपने वातावरण से समायोजन स्थापित करने की योग्यता देती है।

स्वामी विवेकानंद के शब्दों में- "शिक्षा वही है जिससे चरित्र का निर्माण

होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होता है।" इस अर्थ में शिक्षा लिखने और पढ़ने का ज्ञान देने के साथ ही व्यक्ति के आचरण, विचार व दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन करती है जो समाज, राष्ट्र तथा संपूर्ण विश्व के लिए लाभदायक होती है। वस्तुत: शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्ति के संपूर्ण जीवन जीने में है। यह जीवन कई पक्षों में बँटा है तथा अनेक दायित्वों और कर्त्तव्यों में गुँथा है। इन सभी को योग्यतापूर्वक निभाने की कला सिखाना शिक्षा का कार्य है और यही शिक्षा का वास्तविक अर्थ भी है।

शिक्षा का अतीत:

किसी भी देश को प्रगतिशील धारा में शामिल होने के लिए वहाँ की शिक्षा अहम् भमिका निभाती है। साथ ही वहाँ के साहित्य, संस्कृति, अर्थ, राजनीति और सामाजिक ढाँचे की भी सामाजिक तौर पर एक सार्थक भूमिका होती है। यदि इन्हीं सबकी रीढ़ में घुन लग जाए तो स्वस्थ समाज और सबल राष्ट्र की उम्मीद किस जमीन पर खड़ा होकर की जाएगी। ज्ञानवान व्यक्ति किसी भी देश व समाज के लिए बहुमूल्य धरोहर होते हैं। यदि किसी देश की समस्त जनता शिक्षित हो तो उस देश का उन्नत होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि प्रत्येक विकसित देश ने अपने यहाँ शिक्षा के ढाँचे को मजबूत किया और ऐसी व्यवस्था की कि कोई भी व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने से वंचित न रहे।

जहाँ तक भारत में शिक्षा की व्यवस्था का सवाल है यहाँ आदि काल में गुरुकुल से लेकर विश्वविद्यालयों तक की व्यवस्था थी। नालंदा, विक्रमशिला और तक्षशिला विश्वविद्यालय शिक्षा के महान केंद्र थे। इन विश्वविद्यालयों में दूसरे देशों के भी छात्र शिक्षा ग्रहण करने आते थे। भारतीय इतिहास पर एक नजर डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि आध्यात्म से लेकर विज्ञान तक की शिक्षा को इस देश में अत्यधिक महत्ता प्राप्त थी, किंतु विदेशी आक्रमणकारियों के अनवरत हमलों ने देश की शिक्षा के ढाँचे को भारी क्षति पहुँचाई। अनेक आक्रमणकारियों ने तो शिक्षा के केंद्रों को खास तौर पर अपना निशाना बनाया। नालंदा तथा तक्षशिला में खड़े खंडहर आज भी इस बात के गवाह हैं।

अँग्रेजों के शासनकाल में शिक्षा-व्यवस्था को मजबूत करने की ओर अवश्य ध्यान दिया गया और देश के अनेक भागों में विश्वविद्यालयों की स्थापना भी की गई, जो अपने बदले हुए नाम से आज भी विद्यमान हैं। लेकिन इस दौरान भी जनसाधारण के बीच शिक्षा को अपेक्षित महत्ता नहीं मिल सकी। स्वतंत्रता-संग्राम के वक्त भारत में ज्यादातर लोग अशिक्षित ही थे।

आजादी के बाद जब भारत का संविधान बना तो उसमें शिक्षा देने की बात कही गई। संविधान में यहाँ तक प्रावधान किया गया कि संविधान लागू होने के दस वर्ष के अंदर सभी बच्चों को 14 वर्ष की आयु तक नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जाए, किंतु आजादी के 59 साल बाद भी यहाँ शिक्षा-व्यवस्था ऐसी नहीं बन पाई जिससे विकसित भारत का निर्माण हो सके। भारत की निरंतर बढ़ती आबादी ने सबको शिक्षा प्रदान करने के लक्ष्य को और अधिक मुश्किल में डाल दिया। यद्यपि सभी को शिक्षित करने के लिए सर्व शिक्षा अभियान जारी है और 86वें संविधान संशोधन के माध्यम से सभी बालक-बालिकाओं के लिए प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना उनका मौलिक अधिकार बना दिया गया है। लेकिन, शिक्षा का वह ढाँचा अभी भी नहीं बन सका है जिसके जरिए देश के सभी बच्चों को शिक्षित किया जा सके।

शिक्षा का वर्तमान परिदृश्य:

शिक्षा के मामले में हमारा अतीत भले ही स्वर्णिम रहा हो, कभी विश्व गुरु बनकर दुनिया में ज्ञान का दीप प्रज्वलित करने का श्रेय यहाँ के नालंदा विश्वविद्यालय को भले ही प्राप्त रहा हो, पर इन महान उपलब्धियों के बावजूद उस अतीत की तुलना में हमारे शिक्षातंत्र का वर्तमान कोई खास उत्साह जगाता नहीं लगता। देश की भावी पीढ़ी को प्रशिक्षण और संस्कार मिल तो रहे हैं, पर उनमें समरूपता नहीं है। सरकारी स्कूलों में जहाँ पढ़ाई का स्तर आदर्श तो क्या, मामूली स्तर पर भी स्वीकार्य नहीं होता, वहीं अभिभावकों द्वारा आज निजी संस्थाओं की पढ़ाई पर ही ज्यादा भरोसा किया जाता है। उन्हें यह विश्वास है कि निजी संस्थाओं द्वारा संचालित स्कूलों की पढ़ाई बेहतर होती है, उसकी अनुशासन-व्यवस्था तथा पाठ्यक्रम पर पाश्चात्य छाप होती है। अत: ये निजी शिक्षण संस्थाएँ उच्च-मध्यवर्ग के लोगों के आकर्षण के केंद्र होती हैं। सरकारी स्कूलों में इस समय जैसा माहौल है, वह अच्छी शिक्षा को धूमिल करने के लिए काफी है। आज भी अधिकांश सरकारी विद्यालयों में न तो पर्याप्त साज-समान हैं, न अच्छे भवन और न खेल-मैदान। अधकचरे रूप से प्रशिक्षित अध्यापक वहाँ छात्र-छात्राओं के साथ न केवल उदासीनता से पेश आते हैं, बल्कि कभी-कभी तो अमानवीय व्यवहार भी करते हैं। होमवर्क न करने पर जिन सरकारी विद्यालयों में छात्र-छात्राओं को वस्त्रविहीन कर बेंच पर खड़े होने की सजा दी जाएगी, वे कैसे अपनी संभावनाओं के प्रति अभिभावकों या विद्यार्थियों को आश्वस्त कर पाएँगे। एक ओर आज नवोदय विद्यालय जैसी महत्त्वाकांक्षी योजनाएँ भी धूल चाटती दीख रही हैं, तो दूसरी ओर कुकुरमुत्ते की तरह देश के प्राय: हर क्षेत्र

में उग आए पब्लिक स्कूल मनमाने ढंग से धन उगाही कर रहे हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि अधिक संख्या में सरकारी स्कूल होते हुए भी अभिभावक अपने बच्चों को वहाँ नहीं पढ़ाना चाहते, क्योंकि सरकारी शिक्षण-संस्थानों में शिक्षा की गुणवत्ता ठीक नहीं है। एक ओर सरकारी विद्यालयों में पठन-पाठन का स्तर गिरता चला जा रहा है तो दूसरी ओर निजी क्षेत्र के एक वर्ग ने शिक्षा के माध्यम से धन बटोरने को अपना लक्ष्य बना लिया है। आज यदि सर्वाधिक कमाईवाला कोई क्षेत्र है तो वह शिक्षा ही है। निःसंदेह शिक्षा के ढाँचे को विकसित करने और सब को सही ढंग से शिक्षा प्रदान करने के लिए निजी क्षेत्र का सहयोग आवश्यक है, किंतु यह भी नहीं होना चाहिए कि कुछ लोग विद्यालय और महाविद्यालय खोलने के नाम पर दोनों हाथों से धन बटोरने का कार्य करें। वर्तमान में शिक्षा के मामले में 'मंहगा है तो अच्छा है', की अवधारणा काम कर रही है। इसलिए धनी अभिभावक अपने बच्चों को निजी क्षेत्र के स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में भेज रहे हैं। यह कोई अच्छी स्थिति नहीं। यदि यह स्थिति बरकरार रही तो अमीर और गरीब के बीच की खाई और बढ़ेगी।

शिक्षा में बढ़ती राजनीति से भी शिक्षा-व्यवस्था चरमरा रही है। मेरे विचार से कम-से-कम शिक्षा, स्वास्थ्य यदि सरकार बदलने के बाद हर बार अपने ढंग से पुस्तकों एवं पाठ्यक्रमों में फेरबदल होता रहे तो इसका खामियाजा छात्रों को ही भुगतना पड़ेगा। पाठ्यपुस्तकों एवं पाठ्यक्रमों को राजनीति का जरिया बनाना किसी भी दृष्टिकोण से सही नहीं है। इस तरह का प्रयोग शिक्षा के लिए घातक सिद्ध हो रहा है।

संविधान निर्माताओं का प्रारंभिक उद्देश्य था कि वर्ष 1960 तक भारत का हर व्यक्ति साक्षर हो जाए। दुर्भाग्य से यह लक्ष्य आज भी प्रतीक्षित है। भारत ही नहीं, बल्कि दुनिया के किसी भी देश में शिक्षा की प्रगति के लिए समर्पण और धन इन दो चीजों का होना आवश्यक है। आजादी के बाद शिक्षा के प्रति न तो समर्पण का भाव रहा और न उस पर अधिक धन का आवंटन हुआ। यानी शिक्षा को उचित महत्त्व नहीं दिया गया। इसी का परिणाम यह हुआ कि हमें मंजिल नहीं मिली। पर आज परिस्थितियाँ करवट ले चुकी हैं। वर्तमान सरकार के न्यूनतम साक्षा कार्यक्रम के तहत शिक्षा के लिए धन जुटाने हेतु दो प्रतिशत उपकर लगाने के साथ ही सकल घरेलू उत्पाद को छः प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करने का संकल्प इस बात का द्योतक है कि शिक्षा के महत्त्व को समझा गया है। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक एवं अन्य एजेंसियों से केवल प्राथमिक शिक्षा के लिए सत्रह हजार करोड़ रुपये उपलब्ध कराना शिक्षा के महत्त्व को दर्शाता है।

जहाँ तक शिक्षा के प्रति समर्पण की बात है संविधान में संशोधन कर

शिक्षा का लगभग 98 प्रतिशत दायित्व राज्य सरकार को दिया गया है। यह इस बात का परिचायक है कि शिक्षा के महत्त्व के मद्देनजर इसे दलगत राजनीति से अलग होकर देखने की कोशिश की गई है। किंतु इधर हाल के वर्षों में शिक्षा को शिक्षा के लिए नहीं मंत्रियों को अपनी विचारधारा के लिए चलाने की कोशिशें जितनी ज्यादा हुई हैं उतनी पहले शायद कभी नहीं हुई। पाठ्यक्रम बदले गए, पुस्तकें बदली गईं और सरकार के बदलते ही विचारधारा बदल गई तो पाठ्यक्रमों को फिर बदल दिया गया। दशकों से जो परिपाटी चली आ रही थी और जो अच्छे पढ़े-लिखे लोगों की पूरी एक पीढ़ी पैदा कर चुकी थी उसे भी बदल देने की पूरी कोशिश हुई।

शिक्षा को हम समाज की बदलती जरूरतों के हिसाब से बदलें तो यह सहज स्वीकार्य हो जाता है। उस पर हम अपनी-अपनी भावुकतापूर्ण विचारधाराओं को लादने लगें तो वह अप्रासंगिक हो जाता है। शिक्षा में धारणा पर आधारित प्रयोगवाद तभी प्रारंभ हो जाता है। इससे बचते हुए हम शिक्षा की जिनको तुरत जरूरत है उन्हें शिक्षित करने की बात सोंचे।

दरअसल स्वातंत्र्योत्तर भारत में प्रयोगों की भूल-भुलैया से गुजरती हुई शिक्षा और शिक्षा-नीति कई बिडंबनाओं की शिकार हुई है। अनेक प्रयोगों के बावजूद भी शिक्षा के उद्देश्यों और स्वरूप को लेकर कोई स्पष्ट अवधारणा अभी तक नहीं बन पाई है। हैरत की बात तो यह है कि 21 वीं सदी में भी बहस भारतीय शिक्षा-व्यवस्था एवं पद्धति को व्यापक एवं सर्वग्राह्य बनाने को लेकर नहीं, उसके रंग भगवा या लाल को लेकर है। रंगों की इस बहस में मूल्य आधारित वास्तविक शिक्षा को न केवल नजरअंदाज किया जा रहा है, बल्कि बड़े ही सुनियोजित ढंग से असली शिक्षा की पहुँच से गरीबों को दूर किए जाने का खेल खेला जा रहा है।

यहाँ गंभीरता से सोचने का विषय यह है कि क्या भारतीय इतिहास की खदानों से गड़े मुर्दे उखाड़कर उन्हें खड़े करने, नए शब्द जोड़ने अथवा उन्हें पूर्व की तरह जस-का-तस बनाए रखने मात्र से शिक्षा के मूल उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में कोई ठोस एवं निर्णायक मदद मिलने की संभावना है? शिक्षा के प्रचार-प्रसार, गुणवत्ता, उन्नयन एवं लोगों तक शिक्षा की व्यापक पहुँच बनाने में उपर्युक्त तत्त्व क्या वास्तव में बाधक हैं? कहीं शिक्षा की निजी दुकानों में तैयार शिक्षार्थी को अपने निहित राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थों की निर्बाध आपूर्ति का साधन एवं साक्ष्य बनाना ही अंतिम लक्ष्य तो नहीं है? यदि किसी भी विचार का शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षार्थियों को सत्ता की सीढ़ी बनाना ही अंतिम लक्ष्य है तो

यह भारत जैसे अनेकता में एकतावाले देश के लिए बहुत खतरनाक है।

शिक्षा का उद्देश्य:

शिक्षा का परम उद्देश्य देश एवं समाज का संपूर्ण, संतुलित एवं स्थायी विकास करना है। मानव-संसाधन के सतत् विकास से शिक्षा का सीधा संबंध है। हमारा लोकतंत्र, हमारा समाजवाद, हमारे पंथ-निरपेक्ष मूल्य, हमारे गणराज्य की प्रभुसत्ता, उत्तरदायित्व की भावना, सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना तथा समानता का भाव-ये सभी लोगों की वास्तविक शिक्षा में ही निहित हैं। शिक्षा द्वारा उन मूल्यों और अवधारणाओं का प्रचार-प्रसार करना संभव होता है जिनके लिए देश समर्पित है। मूल्यों की प्रतिष्ठा, मूल्यों का संप्रेषण और मूल्यों के संरक्षण का त्रिवेणी-समायोजन ही पूर्ण शिक्षा है। शिक्षा का अभिप्रेत सुयोग्य व्यक्तित्व का निर्माण करना है जिसका लक्ष्य केवल सामाजिक जीवन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि मानव-जीवन का पूर्णांग विकास करना भी है, किंतु दु:खद स्थिति यह है कि आज की शिक्षा अपनी अर्थवत्ता के ह्रास के कारण जीवन मूल्यों को खोती जा रही है। फलत: नैतिक मूल्यों का स्थान या तो रिक्त हो गया है अथवा आधुनिकता ने उस पर अतिक्रमण कर लिया है। ऐसी शिक्षा प्रणाली व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के लिए किसी भी स्थिति में कल्याण नहीं कर सकती है। शिक्षा तो एक ऐसा महत्त्वपूर्ण संस्कार है, जो जीवन मूल्यों के साथ जुड़कर ही मानव जीवन को पूर्णांग बनाता है, तभी समाज पर उसका प्रतिबिंब स्वत: आच्छादित होने लगता है।

महात्मा गाँधी ने शिक्षा का लक्ष्य बताया था बच्चों की शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना। इसी प्रकार बर्ट्रेंड रसेल ने शक्ति, साहस, बुद्धि और संवेदना के गुणों से बच्चे को संपन्न करना शिक्षा का उद्येश्य बताया, किंतु वर्तमान शिक्षा इन सभी लक्ष्यों के विरूद्ध सिर्फ बच्चे को आहार, निद्रा आदि की पशुसम प्रवृत्तियों का जीवन जीने के मकसद से बाजार का अंग बनने के लिए तैयार करती है। स्वतंत्रता, समता और बँधुत्व हमारे संविधान के मूल्य ही नहीं ये तमाम मानव-मूल्यों और नैतिकताओं के स्रोत भी हैं। बच्चों में इन मूल्यों की प्रतिष्ठा करना और उसे इन मूल्यों को जीने के लिए प्रशिक्षित करना, शिक्षा का सबसे बड़ा उद्देश्य होना चाहिए।

देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की नजर में शिक्षा का समाज में बहुत बड़ी भूमिका है। यह मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ जीवन और जगत के यथार्थ

से परिचित कराती है। मेरी समझ से वही शिक्षा मूल्यवान है जो मानवीय गुणों के विकास एवं आपसी भाई-चारे की भावना को बढ़ावा देती है।

शिक्षा द्वारा सभी स्तरों पर तार्किक व वस्तुगत निर्णय का व्यावहारिक ज्ञान विकसित होता है। शिक्षा के माध्यम से भविष्य के बारे में चिंतन, परिवर्तनों के प्रति व्यापक दृष्टिकोण, वैज्ञानिक सोच विकसित करने तथा अंतिम आदमी को राष्ट्र निर्माण में भूमिका एवं सम्मानजनक भागीदारी सुनिश्चित करने में सहायता मिलती है। शिक्षा से सामाजिक न्याय की अवधारणा का विचार और अधिक प्रभावी होता है। गरीबी दूर करने, राष्ट्रीय एकता, जनसंख्या नियंत्रण, समानता एवं सहृदयता की सुखद कल्पना वास्तविक शिक्षा द्वारा ही संभव है। यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप शिक्षा के विषय-वस्तु में परिवर्तन हो, जो कि देश के परिवर्तन, परिवेश और वर्तमान सामाजिक-आर्थिक अपेक्षाओं के अनुरूप हो। भविष्योन्मुखी शिक्षा व्यवस्था के लिए सतत एवं उत्कृष्ट प्रयास किए जाने चाहिए। भारत में छात्रों को क्या पढ़ना चाहिए और क्या नहीं, यह तय करना किसी एक व्यक्ति या दल का अधिकार नहीं है। यह आवश्यक है कि समय रहते शिक्षा जैसे संवेदनशील मुद्दे पर राष्ट्रीय सहमति के बाद ही निर्णय किए जाने की स्वस्थ परंपरा विकसित हो। इसके लिए नीतिनिर्धारकों की नीति एवं नीयत में पारदर्शिता होना अनिवार्य है। किंतु, दु:खद स्थिति यह है कि शिक्षा को आज केंद्रीकृत और असमान बनाए रखते हुए यह अपने वर्गीय हितों के संरक्षण-पोषण की कुत्सित कोशिश की जा रही है। इतना तो तय है कि शिक्षा नीति को लेकर बरती जा रही यह उदासीनता हमारी वर्तमान पीढ़ी को तो क्षतिग्रस्त कर ही रही है भावी पीढ़ी को भी एक ऐसी अँधगली की ओर ले जा रही है जहाँ से फिर वापस लौटना मुश्किल होगा। खोखले चिंतन और बहसों से समस्याएँ हल हो जातीं तो निश्चित तौर पर भारत में आज कोई सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक समस्या विद्यमान नहीं होती। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि वैचारिक प्रतिद्वंद्वियों को यथार्थ के ठोस धरातल पर कठोर शैक्षिक हकीकतों के पहाड़ के नीचे आकर बहस-विचार करना चाहिए ताकि शिक्षा से भविष्योन्मुखी परिणाम निकल सके।

शिक्षा की असलियत

सच कहा जाए तो हमारी शिक्षा व्यवस्था का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि उसमें कई स्तर और वर्गीकरण है और वर्गीकरण में बच्चों की जगह उनके माँ-बाप की आर्थिक हैसियत सामर्थ्य से निर्धारित होती है। इस बहुपरतीय स्कूली व्यवस्था के साथ बच्चों का वर्तमान ही नहीं भविष्य भी तय होता है।

यानी हिंदी माध्यमवाले परंपरागत स्कूलोंवाले बच्चे तीसरे दर्जेवाली नौकरियों के लिए आरक्षित हो जाते हैं और पब्लिक स्कूलोंवाले अँग्रेजी माध्यम के बच्चे भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय आरक्षी सेवा, मेडिकल, इंजीनियरिंग तथा मैनेजमेंट जैसे क्षेत्रों जहाँ बेसुमार पैसा और प्रतिष्ठा है, चले जाते हैं। सामाजिक वैमनस्य को ज्यों-का-त्यों बनाए रखनेवाली इस असमान शिक्षा व्यवस्था का वीमत्स चेहरा प्रारंभिक शिक्षा से उच्च शिक्षा के क्षेत्र में नजर आता है।

शिक्षा के इस वैमनस्य को दूर करने के लिए कोठारी आयोग ने एक क्रांतिकारी सुझाव दिया था। वह था पड़ोस के विद्यालय का। मतलब आपको अपनी मर्जी से विद्यालय का चयन न कर राशन दुकान की तरह अपने पड़ोस का ही विद्यालय चुनना होगा, किंतु इस पर आजतक अमल नहीं हो सका, क्योंकि इस पर अमल से सबसे ज्यादा उस अधिकारी वर्ग के हित प्रभावित होते, जिन्होंने आज शिक्षा के क्षेत्र में यथास्थिति बना रखी है।

आज की यह शिक्षा बेहतर नागरिक गढ़ने की प्रयोगशाला न होकर बेहतर नौकरशाह-कलर्क के उत्पादन का कारखाना हो गई है। यह स्थिति बेहद निराशा और कुंठा को जन्म दे रही है। यह शिक्षा युवा-शक्ति को आम तौर पर अपने देश-काल के प्रति, अपने सामाजिक और मानवीय मूल्यों के प्रति और अपने बृहत्तर उत्तरदायित्वों के प्रति संवेदनशील बनाने में विफल रही है। यह व्यवस्था की मशीन को चला सकनेवाले पूर्जा बना रही है। उसमें मानवीय आयाम जोड़नेवाले मनुष्य नहीं जिसकी वजह से समाज में अकेलेपन, हताशा और असुरक्षा की नई स्थितियाँ बन रही हैं।

शिक्षा को व्यक्तित्व, विचार और व्यवहार के विशिष्टीकरण का आधार माना गया है, लेकिन जब संपूर्ण शैक्षणिक प्रणाली को ही प्रदूषित कर दिया जाय तो इसके कुपरिणाम कितने कुरूप हो सकते हैं इसका प्रत्यक्ष प्रतिबिंब हमारी आज की शिक्षा व्यवस्था है। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को समाज के लिए उपयोगी बनाना है। आजादी के बाद से अब तक विशेष रूप से उत्तरी भारत के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के स्तर का ग्राफ निरंतर नीचे जा रहा है। साथ ही, शिक्षा प्रणाली में व्यावहारिकता-व्यावसायिकता के पुट की कमी और तोता-रटंत की कला के आधिक्य ने हमें डिग्री अधिक और रोजगार कम प्रदान किए हैं। उस पर से नकल की छूट शिक्षा के प्रति श्रद्धा-समर्थण-भाव के अभाव, पैरवीकारों की लॉबी, परीक्षकों में निष्पक्ष भाव की कमी और सिर्फ डिग्री प्राप्त करने के शगल ने हमारी समस्त शैक्षणिक प्रणाली को तोड़-मरोड़ कर रख दिया है।

हाल के वर्षों में भारत के सर्वाधिक मानेजानेवाले शिक्षण संस्थानों की परीक्षाओं का जो चरित्र उभर कर सामने आया है आखिर उससे उभरनेवाली

तस्वीर और बननेवाली छवि को किस दर्पण में देखा जाय। इन शिक्षण संस्थाओं द्वारा दी जा रही शिक्षा, ली जा रही परीक्षा और की जा रही उत्तर-पुस्तिकाओं की मूल्याँकन-शैली का जो दागदार पर्दा उठा है उससे न केवल संशय पैदा हुआ है, बल्कि कई ज्वलंत सवाल भी खड़े हुए हैं। मेडिकल हो या इंजीनियरिंग, बी०एड हो या वाणिज्य या फिर कैट आदि की परीक्षा कोई ऐसा नहीं है जिसका पर्चा लीक न हुआ हो। ऐसा नहीं है कि जिन शिक्षण संस्थाओं में इस तरह की घटनाएँ प्रकाश में नहीं आई हैं वे बड़ी निष्पक्षता का चरित्र हासिल किए हुए हैं। होता यहाँ भी सब कुछ है पर उसका ट्रेंड बिल्कुल अलग है। मसलन परीक्षा नजदीक आते ही गेस पेपर उपलब्ध करा देना, परीक्षा के दरम्यान उत्तर हल करा देना और उत्तर-पुस्तिकाओं के मूल्याँकन में पैरवी को प्राथमिकता देना इत्यादि शामिल हैं। हालांकि इसका लाभ सभी वर्ग के लोग नहीं उठा पाते हैं, लेकिन बेशक जिस वर्ग का आदमी नीचे से ऊपर तक होता है वे अवश्य इसका लाभ उठाने से नहीं चूकते यानी किसी तरह दांव-पेंच लगाकर डिग्री हासिल कर लेना कहीं-न-कहीं एक बड़े हिस्से को हाशिए पर धकेले रहने की साजिश का हिस्सा भी लगता है। जिसके पास अर्थ है वे हर क्षेत्र में सक्षम हैं और जिसके पास नहीं है वह योग्य होकर भी अक्षम है।

ऐसा नहीं है कि शैक्षिक जालसाजी एवं फर्जीगिरी को कोई एक व्यक्ति संचालित कर रहा है, बल्कि संबंधित शैक्षणिक संस्था के अधिकारी, बाबू, शिक्षक, छात्र नेता और ठेकेदार तक शामिल हैं। ये सभी शिक्षा के सौदागर हैं जिनका कारोबार बालू की नींव पर टिका हुआ है और जिसका ढहना अवश्यंभावी है। एक समय था जब शिक्षा और उससे जुड़े शिक्षकों को बड़ी पवित्रता, निष्पक्षता और आदर-सम्मान के भाव से देखा जाता था। लेकिन वर्तमान में यह बात ठीक उल्टा चल रही है। शिक्षक वर्ग सर्वाधिक भ्रष्ट और अवसरवादी वर्ग के रूप में उभर कर सामने आया है। यह बात ठीक है कि सभी वैसे नहीं हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश उसके शिकार हो चुके हैं। जाहिर है कि उसका प्रभाव शिक्षा और संस्थाओं पर भी पड़ा है। बुद्धि का कपाट खोलनेवाली शिक्षा-व्यवस्था निरर्थक साबित होने लगी है। चरित्र-निर्माण, सामाजिक बदलाब, राष्ट्रीय सेवा की नींव डालनेवाली शिक्षा-व्यवस्था अचानक ध्वस्त हो गई और इसकी गुणवत्ता में निरंतर गिरावट आ गई। मौजूदा शिक्षा-व्यवस्था ने व्यक्ति के अंदर सृजनशीलता और रचनात्मकता की उर्जा का संचार करने में असफल हुई है और इसने मनुष्य को व्यक्तिवादी, स्वार्थी और सामाजिक सरोकारों से काट कर निजी हितों की ओर उसका मुख अवश्य मोड़ने का काम किया है।

हमारे शिक्षा केंद्र जो आज राजनीतिज्ञों की कुत्सित नीति के केंद्र हैं, भ्रष्ट और पैरवीकारों का रंगमंच बन कर रह गए हैं और जहाँ शिक्षा की अर्चना न कर

पद और पैसों को नमन किया जाता है। इसका आधारभूत ढंग से नवीनीकरण और सुधारीकरण अतिअनिवार्य हो गया है। एक विद्यार्थी, जिसने कभी सरस्वती का आँगन समझ विश्वविद्यालय में प्रवेश किया, आज महज मूक कठपुतली बनकर रह गया है। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं कि इस शैक्षणिक अराजकता के लिए छात्र, शिक्षक, अभिभावक, पत्रकार, साहित्यकार, नेता, सरकारी सेवक आदि सभी समान रूप से जिम्मेदार हैं, पर शिक्षा के मंदिरों को क्षत-विक्षत करने का काम शिक्षा माफिया ने किया है।

संवेदनाएँ इस कदर दम तोड़ सकती हैं-इस विषय पर आत्ममंथन की जरूरत है। अपनी मनोवृत्ति को परिवर्तित कर हमें राष्ट्र तथा समाज के प्रति अपनी भूमिका को सकारात्मक दिशा देनी होगी और उस प्रत्येक कार्य के विरूद्ध जनमत तैयार करना होगा जो शिक्षा की ओट में अपनी दुकानदारी चलाकर देश में अशिक्षितों की फौज तैयार करना चाहते हैं और समाज में विसंगतियाँ उत्पन्न कर रहे हैं। नेताओं को भी शिक्षा में अकारण दखलंदाजी से बचना चाहिए तथा अभिभावकों को भी अपने बच्चों के भविष्य पर प्रश्न चिह्न लगाने की गलती नहीं करनी चाहिए।

बिना सामाजिक गतिशीलता पैदा किए किसी भी सामाजिक-आर्थिक विकास को हासिल करना असंभव है। इस सामाजिक गतिशीलता को सृजित करने और स्थायित्व प्रदान करने में शिक्षा की भूमिका सर्वोपरि है। शिक्षा शिक्षित श्रम की वर्तमान आवश्यकता पूरी करती ही है, यह सामाजिक-राजनीतिक धागे का भी काम करती है। साक्षरता के जरिए व्यक्ति और समाज के बीच संवाद का गतिशील एवं व्यापक माध्यम सृजित होता है।

तकनीकी विकास ने नए आर्थिक-सामाजिक संबंधों को जन्म दिया है। इसका तीव्र प्रभाव सामाजिक शक्तियों पर पड़ा है। प्रजातांत्रिक प्रक्रिया के अंतर्गत मिले अधिकारों ने सदियों से शोषित, वंचित, दलित वर्ग में सत्तासीन होने की आकांक्षा को जाग्रत किया है। स्वभावतः ऐसी सामाजिक शक्तियों के नेतृत्व वर्ग में शिक्षा-प्रसार की व्यापकता को तीव्रता से महसूस किया जाने लगा है। देश आज एक ऐतिहासिक दौर से गुजर रहा है जहाँ जन-चेतना और जन-संगठन की धार को तेज करने की जरूरत है। बेशक इसके लिए साक्षरता का महत्त्व पहले से कहीं ज्यादा बढ़ गया है।

प्रारंभिक शिक्षा और सौकर्य में सरलता की आवश्यकता:

प्रारंभिक शिक्षा में सबसे पहली आवश्यकता बच्चे के घर तथा स्कूल के वातावरण में एक निरंतरता का दिखाई देना है। बच्चों को किस प्रकार पाठशाला

के वातावरण में घुलमिल जाने को कहा जाए, यह कार्य केवल प्रशिक्षित, कर्मठ तथा संवेदनशील अध्यापक ही कर सकता है। किंतु, चिंता की बात है कि बच्चों के साथ आत्मीयता तथा अंतरगता स्थापित करने के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रमों में आवश्यक ध्यान नहीं दिया जाता है। स्थिति यह है कि अधिकतर में इसका तो प्रावधान ही नहीं है। अनेकानेक अध्यापक स्वयं के अनुभव के साथ सीखते हैं। अनेक शिक्षा-संस्थाएँ जो व्यापार की दृष्टि से स्थापित नहीं की गई हैं इस दिशा में सफलतापूर्वक सही दिशा दिखा रही हैं। आज यह सर्वमान्य है कि प्राथमिक कक्षाओं में जो भी पढ़ाया जाए वह बच्चों के आसपास के पर्यावरण से जुड़ा हो। आज हम बच्चों को न जाने कितने अनावश्यक बोझ से लाद देते हैं। उन्हें न जाने कहाँ-कहाँ की जानकारी से ओत-प्रोत कर देना चाहते हैं। धीरे-धीरे पाठ्यक्रम का बोझ एक बड़ी समस्या बन जाती है। यदि इस तथ्य का ध्यान रखा जाए तो शिक्षा में अनमने ढंग से सीखने की भावना कम होगी, किंतु दुःखद स्थिति यह है कि ऐसा आज नहीं हो पा रहा है। इसका और कारण चाहे जो हो, पर बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा इसका मुख्य कारण है। फिर रोजगार मिलने के संबंध में अनिश्चितता भी बढ़ी है।

आज भविष्य की चिंता से ग्रस्त शिक्षित अभिभावक तीन-चार वर्ष के बच्चों को भी अधिक-से-अधिक शिक्षा देना प्रारंभ कर देते हैं। सामान्यतः जो कुछ शिक्षा में पाँच वर्ष बाद प्रारंभ होना चाहिए वह प्रि-स्कूल तथा किंडरगार्डन के नाम पर ढाई-तीन वर्ष की उम्र से ही प्रारंभ कर दिया जाता है। यह अपने आप में बड़ी चुनौती है। शिक्षातंत्र तथा प्रशासन द्वारा लाख प्रयत्न करने के बाद भी तीन-चार साल के बच्चे के स्कूल में प्रवेश के लिए केवल उसका ही नहीं उसके माँ-बाप का साक्षात्कार खुले आम हो रहा है और तीनों का रिजेक्ट हो जाना आजकल एक आम घटना है। दूसरी ओर वे स्कूल हैं जहाँ के बच्चों तथा माता-पिता के पास और कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं है। सर्वेक्षणों से यह अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है कि अनेक माता-पिता अपने बच्चों को तीन-चार

(शिक्षा में समाप्त होती सहजता-जगमोहन सिंह राजपूत, दैनिक जागरण दिनांक 10 जुलाई, 2004)

'शिक्षा पर सरकार की चिंता'
-संजय गुप्ता, (दैनिक जागरण 20 जून 2004)
शिक्षा का राजनीतिकरण
-स्वतंत्र टिप्पणीकार डॉ॰ चक्रपालसिंह (दैनिक जागरण)
व्यावसायीकरण से शिक्षा की मुक्ति जरूरी
-डॉ॰ विभूति भूषण मलिक (हिंदुस्तान दिनांक 29 जून 2004)

साल बाद इसलिए स्कूल से वापस बुला लेते हैं, क्योंकि स्कूल अनियमित होता है और बच्चे कुछ सीख नहीं पाते। ऐसा देखा गया है कि कक्षा पाँच के बच्चे अपना नाम तक नहीं लिख पाते। ऐसा तभी होता है जब सारे तंत्र कृत्रिमता से ग्रस्त हो जाते हैं और सरलता तथा सहजता उनमें नष्ट हो जाती है। स्कूल में क्या पढ़ाई होती है और कैसे पढ़ाई होती है, इससे माता-पिता को कोई सजगता नहीं। उनकी दिलचस्पी तो सिर्फ इसमें है कि उनके बच्चे परीक्षा में कितने प्रतिशत अंक ला पाते हैं। कक्षा में पाठ पढ़ने तथा पढ़ाए जाने के अतिरिक्त स्कूलों में जो कुछ और होना चाहिए वह उनके लिए कोई मायने नहीं रखता है। परिणाम-स्वरूप शिक्षा की सुंदरता तथा शालीनता घट गई है। कितने ही क्रियाकलाप हैं, जो स्कूल-शिक्षा के आवश्यक अंग होने चाहिए। लेकिन, चूँकि, वे अंक प्रतिशत में योगदान नहीं करते, अतः उन्हें भुला दिया जाता है।

पश्चिम की तर्ज पर दी जा रही आज की शिक्षा और व्यावसायिक दृष्टिकोण सब कुछ अर्थतंत्र में देखे जाते हैं। इसलिए शिक्षा से जुड़े भारत की मौलिक सोच, विचार, परंपरा और चिंतन पर आधारित किसी भी प्रस्ताव पर पूँजीवादी सोचवाला वर्ग स्वाभाविक रूप में नाक-भौं सिकोड़ने लगता है। कभी गाँधी जी ने स्वतंत्रता-प्राप्ति से बहुत पहले कहा था कि अगली शताब्दी तक शिक्षा, ज्ञान और बौद्धिकता का महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाएगा। आज के वैज्ञानिक और शैक्षणिक विकास के रूप में लोगों की भागीदारी और उपलब्धियों से तब का यह आकलन आज सटीक साबित हो रहा है।

भारत के राष्ट्रपति डॉ० ए० पी० जे० अब्दुल कलाम भी मानते हैं कि माध्यमिक स्तर पर स्कूली पाठ्यक्रम में इस प्रकार का बदलाव किया जाना चाहिए, जिससे बच्चों को बेहतर उद्यमी बनाने में मदद मिल सके और वे भविष्य में रोजगार बाजार की चुनौतियों का सामना कर सकें। डॉ० कलाम का मत है कि बच्चों में सीखने की क्षमता का विकास करने के लिए प्राथमिक स्तर पर उनमें सृजन-शक्ति को बढ़ावा देना जरूरी है। वही अध्यापक सही मायने में सच्चा अध्यापक है, जो बच्चों में छुपी इस सृजनात्मकता का पता लगा सके। माता-पिता और प्राथमिक स्कूल के अध्यापक ही वे तीन लोग हैं जो सही मायनों में भ्रष्टाचार को समाप्त करने में मददगार हो सकते हैं।

बच्चों के द्वारा बीच में ही पढ़ाई छोड़ देना प्रारंभिक शिक्षा की एक गंभीर समस्या है। इसके लिए सबसे पहले समाज दोषी है, परिवार दोषी है। आज की तिथि में प्रायः सभी विद्यालयों में पुस्तकें, भोजन आदि उपलब्ध कराए जाते हैं, फिर भी अभिभावक अपने बच्चें को स्कूल न भेजें तो इसे आप क्या कहेंगे?

दरअसल हमारी शिक्षा पश्चिम से काफी प्रभावित है। एनसीईआरटी द्वारा

पूरे देश में एक पाठ्यक्रम बना देने के बाद बच्चों की रुचि और क्षमताओं के लिए कोई गुँजाइश नहीं रह जाती है। फिर भी कोई बच्चा अन्य विषयों में काबिल होने के बावजूद गणित में सहज रुचि नहीं होने की वजह से दो और दो चार नही कह सकता तो उसे अयोग्य करार कर दिया जाता है और अंततः वह बच्चा पढ़ने से भागने लगता है। इसलिए अपनी आवश्यकता को आप कैसे पूरा करेंगे? आपको अपना प्रतीक स्वयं बनना होगा।

इस संदर्भ में एक और बात काबिले गौर है कि लड़कियों की शिक्षा के प्रति हमारे भारतीय समाज में उदासीनता है। वर्तमान में मात्र 22 प्रतिशत लड़कियाँ ही स्कूल जाती हैं और उनमें भी आठ स दस प्रतिशत ही पूरी स्कूली शिक्षा ले पाती हैं। इसकी खास वजह यह है कि हमारे समाज में लड़कियों को वह स्वतंत्रता हासिल नहीं है जो लड़कों को है। इसके लिए समाज को आगे आना होगा ताकि लड़कियों के बीच शिक्षा को लोकप्रिय बनाया जा सके।

जनसंख्या-नियंत्रण और शिक्षाः

यद्यपि देश के नीति नियंता इस बात से अच्छी तरह अवगत हैं कि जनसंख्या और विकास में सीधा संबंध है, लेकिन जनसंख्या-नियंत्रण के मामले में ठोस कदम उठाने से इनकार ही अधिक किया जाता है। 14वीं लोकसभा के चुनाव के बाद केंद्र में बनी नई सरकार भी जनसंख्या-नियंत्रण के मामले को कोई खास अहमियत नहीं दे सकी। जनसंख्या-नियंत्रण के लिए सबसे अधिक आवश्यक है आम जनता को छोटे परिवार के महत्त्व से परिचित कराना और यह कार्य शिक्षा के प्रसार और जागरूकता अभियानों से ही संभव है, किंतु दु:खद स्थिति यह है कि निर्धनता से ग्रस्त आबादी के बीच शिक्षा का प्रसार मुश्किल से हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस बात को समझने से जान-बूझकर इनकार किया जा रहा है कि शिक्षा का प्रसार जनसंख्या-नियंत्रण के साथ-साथ निर्धनता निवारण में भी सहायक है।

वर्ष 2001 की जनगणना संबंधी जो आँकड़े जारी किए गए उनसे यह स्पष्ट हुआ कि देश में 35 प्रतिशत लोग अभी भी अशिक्षित हैं। यद्यपि 1991 से 2001 के बीच पुरुषों की साक्षरता दर के मुकाबले महिलाओं की साक्षरता दर कुछ अधिक रही, लेकिन इस बात की अनदेखी नहीं की जा सकती कि पुरुषों की तुलना में महिलाओं की साक्षरता प्रतिशत कहीं अधिक कम है। आश्चर्य इस बात की है कि जब कभी शिक्षा के प्रसार की बात की जाती है तो साक्षरता संबंधी आँकड़े पेश कर दिए जाते हैं। साक्षरता संबंधी आकड़ों से यह समझना मुश्किल है कि देश की आबादी शिक्षित हो रही है अथवा साक्षर?

शिक्षित और साक्षर होने में जो अंतर है उसे समझा ही जाना चाहिए। यदि लोगों को शिक्षित करने से अधिक साक्षर बनाने पर जोर दिया गया तो निर्धनता और अशिक्षा से ग्रस्त समाज में वह जागरूकता और चेतना आ ही नहीं सकती जो परिवार को सीमित रखने, स्वाबलंबी बनने और लिंग-भेद सरीखी बुराइयों को समाप्त करने के लिए आवश्यक है।

भारत के महापंजीयक ने जनगणना संबंधी आँकड़े जारी करते हुए यह कहा है कि वर्तमान में देश की जो जनसंख्या वृद्धि दर 1.6 प्रतिशत है वह संतोषजनक है, लेकिन यह तो गंभीर चिंता का विषय बनना ही चाहिए कि देश के कुछ राज्य जनसंख्या-नियंत्रण के मामले में तनिक भी सचेत नजर नहीं आ रहे हैं। आम तौर पर ये वे राज्य हैं जहाँ साक्षरता का प्रतिशत कम है और गरीबी अधिक। इन तथ्यों के आलोक में यह आवश्यक हो जाता है कि जनसंख्या-नियंत्रण के लिए शिक्षा का प्रसार अधिकाधिक किया जाए ताकि विकास की गति को बल मिल सके, क्योंकि जनसंख्या नियंत्रण के लिए किए जानेवाले सभी प्रयास निहायत ही खोखले सिद्ध हो रहे हैं। भारत की नवीनतम जनगणना 2001 के अनुसार देश की जनसंख्या 1991 की गणना के बाद 18 करोड़ 20 लाख से बढ़कर अब एक अरब 87 लाख 37 हजार 436 हो गयी है। इन दस वर्षों में इस देश में एक ब्राजील देश पैदा हो गया है जो भयावह है। इनसे साफ झलकता है कि सरकारी अमला परिवार-कल्याण-कार्यक्रम चलाने के नाम पर महज खानापूरी होकर रहा है। जिस समस्या को लगभग तीन दशक पूर्व ही खतरनाक करार दिया गया उसके प्रति सरकारी महकमे का यह रवैया उसके शुतुरमुर्गी स्वभाव को ही दर्शाता है।

दरअसल जनसंख्या-नियंत्रण के कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से चलाने की बजाय - उनका ध्यान महज कागजी कार्रवाइयों तक ही सीमित हो गया है। जाहिर है कि इस तरह के कार्यक्रम को चलानेवाले लोगों में कोई इच्छाशक्ति ही नहीं बची है। हालांकि यह भी सच है कि पढ़ा-लिखा तबका अब दो से ज्यादा बच्चों के पक्ष में नहीं है, लेकिन अभी भी देश की एक बड़ी आबादी बच्चों को अपने लिए संसाधन मानती है उसकी वजह उसकी गरीबी, साधनहीनता तो है ही; साथ ही, उसकी अशिक्षा भी है। उन्हें जागरूक बनाने के लिए शिक्षा का प्रसार आवश्यक है। जीवन स्तर को ऊँचा बनाने के लिए छोटा परिवार अनिवार्य है, किंतु आश्चर्य की बात यह है कि परिवार कल्याण कार्यक्रम के लिए महज पाँच हजार करोड़ रुपए का मामूली बजट रखा जाता है और केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय इस बजट की इस राशि को भी खर्च नहीं कर पाता है।

सरकार जिस मॉडल को अपनाकर आबादी घटाना चाहती है, उसके लिए

शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं का आवश्यक ढाँचा खड़ा नहीं हो पाया है। नतीजतन न तो सरकार आबादी घटा पा रही है, न मौजूदा मानवीय शक्ति का भरपूर उपयोग कर पा रही है। एक अरब पाँच करोड़ का आँकड़ा पारकर चुकी आबादी सालाना 1.7 फीसदी की रफ्तार से बढ़ रही है। इसका यह अर्थ हुआ कि एक करोड़ अस्सी लाख यानी आस्ट्रेलिया के बराबर की आबादी हर साल हमारे देश में जुड़ जाती है। इसलिए आज महज रस्मअदायगी के लिए जनसंख्या दिवस मनाए जाने की नहीं, बल्कि ठोस प्रयास किए जाने की जरूरत है। इसमें आम लोगों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जबतक वह इसके महत्त्व को स्वयं नहीं समझेंगे तबतक कोई भी सरकारी प्रयास नाकाफी साबित होंगे, पर केंद्र और राज्य सरकारों को भी जनसंख्या स्थिरीकरण को अपनी ठोस प्राथमिकता में रखना होगा। यह ठीक है कि एक अंतरराष्ट्रीय समझौते के तहत सरकार ने काहिरा सम्मेलन की सिफारिशों के अनुरूप जनसंख्या नीति लागू की है, लेकिन अगर यह किसी राज्य में प्रभावी साबित नहीं हो रही है, तो इसमें आमूलचूल परिवर्तन करने से भी सरकार को परहेज नहीं करना चाहिए।

इस बात की प्रतीक्षा है कि जनता शिक्षित हो ताकि लघु परिवार के महत्त्व को समझ सके। ऐसा लगता है कि जबतक गरीबी व अशिक्षा है तब तक जनसंख्या सुरसा के मुँह की तरह बढ़ती रहेगी। पर ठीक इसके विपरीत कि जब तक जनसंख्या बेतहाशा बढ़ती रहेगी तबतक गरीबी व अशिक्षा भी दूर नहीं होगी। अतएव ऐसा कानून बनाया जाना चाहिए जिसके तहत दो से अधिक बच्चे पैदा करनेवालों को जहाँ चुनाव लड़ने से वंचित कर दिया जाए वहीं उन्हें नौकरियों में नियुक्ति से भी वंचित कर दिया जाए। दुनिया में केवल चीन ही एकमात्र ऐसा देश है जिसने जनसंख्या नियंत्रण के मुद्दे पर एक कारगर कानून का निर्माण किया है और उसे सख्ती से लागू भी किया है।

नैतिक शिक्षा:

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। शिक्षार्थी समाज का एक अभिन्न अंग है। अतः वह सबसे अधिक सामाजिक वातावरण में प्राप्त अनुभवों से सीखता है। समुदाय के लोगों से अंतःक्रिया द्वारा वह सबसे ज्यादा आसानी से सीखता है। इसे सीखने का माध्यम है-इंद्रियाँ, मन एवं बुद्धि। इनमें 'मन' को जिनमें, जिधर आस्था होती है, वैसा हमारा मानस, हमारी सोच बनती है। इसी सोच के आधार

नैतिक शिक्षा: दशा एवं दिशा, प्रो०डी०एल०शर्मा, राजस्थान पत्रिका दिनांक 20 जुलाई 2004

पर ज्ञानेंद्रियाँ एव कर्मेंद्रियाँ सक्रिय होती हैं, और हम बुद्धिबल से उसे ग्रहण कर लेते हैं जिधर हमारा मन होता है।

गीता में सीखने की इस प्रक्रिया को इस तरह प्रस्तुत किया गया है-श्रद्धावान लभते ज्ञान तत्पर: संयतेंद्रिय: तद्विद्धि प्रणिपातेन परिपरनेन से वया'

(गीता 4:39, 34)

इस विवेचना के आधार पर यह नतीजा निकलता है कि नैतिक शिक्षा के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए कुछ पूर्व आवश्यकताएँ हैं-जिनमें प्रमुख हैं-परिवार, समुदाय एवं शिक्षा संस्थानों में नैतिकतामय वातावरण का होना, इनके संचालकों एवं शिक्षकों के आचरण का नैतिक होना, शिक्षार्थी के मन एवं इंद्रियों के संयम के लिए योगाभ्यास एवं नैतिक संबंधी जीवंत क्रियाओं का अभ्यास कराना। समाज के शीर्षस्थ लोगों के आचरण के नैतिक हुए बिना कक्षा शिक्षण द्वारा नैतिक शिक्षा का शिक्षण नहीं हो सकता। नैतिक शिक्षा कक्षा-शिक्षण विषय नहीं है, आचरण एवं अनुसरण का विषय है।

यों तो हमारे देश में औपचारिक शिक्षा की प्रक्रिया द्वारा शिक्षार्थियों को व्यवहार में नैतिकता के समावेश संबंधी चिंतन एवं प्रयास का क्रम विगत कई वर्षों से चल रहा है, और राष्ट्रीय एवं राज्यस्तर पर अनेक नैतिक शिक्षा समितियों का गठन हो चुका है, किंतु इस संबंध में मुख्य विचारणीय बिंदु यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर गठित की गई इन समितियों एवं आयोगों की नैतिक शिक्षा संबंधी सिफारिशों एवं उनके क्रियान्वयन का शिक्षार्थियों के नैतिक आचरण पर क्या एवं कितना प्रभाव पड़ा? दूसरे शिक्षार्थियों एवं भारतीय समाज के नैतिक आचरण को इन सिफारिशों ने क्या कोई सकारात्मक प्रभावी नई दिशा दी? आधुनिक भारत में जिन समितियों, आयोगों ने नैतिक शिक्षा विषय पर विचार किया, सिफारिश की, उनमें सन् 1944 एवं 2004 में कठित कंद्रीय शिक्षा सलाहकार समिति, 1948 का विश्वविद्यालय आयोग, 1952-53 का माध्यमिक शिक्षा आयोग, 1958-59 की धार्मिक नैतिक शिक्षा के लिए गठित श्री प्रकाश समिति, 1964-66 का राष्ट्रीय शिक्षा आयोग, 1968 एवं 1986 की भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1988 की राष्ट्रीय पाठ्य चर्या समिति, 1992 का प्रोग्राम ऑफ एक्शन, 1999 की एस०बी०चण्हाण संसदीय समिति एवं एन०सी०ई०आर०टी० द्वारा गठित समिति सन् 2000 में तैयार की गई विद्यालयी शिक्षा की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा उल्लेखनीय है।

देश की आजादी के पश्चात राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा के उन्नयन हेतु गठित उपरोक्त समस्त समितियों ने जहाँ शिक्षा को सामाजिक पुनर्निर्माण का एक प्रभावी माध्यम स्वीकार किया है, वहीं समाज में मूल्यों के निरंतर हो रहे विघटन

को रोकने हेतु' सर्व व्यापक तथा सार्वभौमिक मूल्यों एवं नैतिकता की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की अनुशंसाएँ की हैं। लेकिन विडंबना यह है कि शिक्षा पद्धति में नैतिक शिक्षा पर प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक नैतिक एवं मूल्य शिक्षा के नियोजन तथा सोद्येश्य उपागम पर किसी भी प्रकार का विशेष ध्यान नहीं है जबकि शिक्षा का लक्ष्य है कि विभिन्न संदर्भों में मूल्य तथा नैतिकता का विकास किया जाए। इसके लिए वर्तमान में कुछ मूल्यों को पुन: परिभाषित तथा पुनः स्थापित करके मूल्य एवं नैतिकता के संकट से मुक्ति पा सकते हैं।

देश की स्वतंत्रता के बाद बार-बार यह सुनने को मिलता है कि यहाँ प्रायः सभी क्षेत्रों में नैतिकता का द्रुत गति से लोप या विघटन हो रहा है और लोग नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करके मात्र अपनी स्वार्थ सिद्धि में लगे हुए हैं। मौजूदा राजनीति में तो दूर-दूर तक कहीं नैतिकता नहीं दिखाई देती है। ऐसी संकट की घड़ी में नैतिक मूल्यों की शिक्षा की ओर ले जाने वाली वाहिकाएँ हमारी चिंताएँ एवं बाध्यताएँ हैं, क्योंकि ये ही भारत के प्रजातांत्रिक समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, न्याय, स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता आदि में विश्वास की वृद्धि के लिए शिक्षण संस्थाओं की भूमिका का मुस्तैदी से निर्वाह कर सकती हैं। प्रजातंत्र एक जीवन शैली है तथा नैतिक मूल्यों की शिक्षा दिन-प्रतिदिन के व्यवहारों के माध्यम से इसके मूल्यों को आत्मसात् कराने में सफल हो सकती हैं। नागरिकों में मेलजोल से रहने तथा सामाजिक सामंजस्य के प्रति सजग तथा सोद्देश्य प्रयास करने की योग्यता का विकास प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक अनिवार्य रूप से प्रदान करने से ही संभव हो सकता है।

शिक्षा का नाम आते ही जनमानस पटल पर जो छवि बनती है वह परिवार तथा शिक्षण संस्था का होता है। नैतिक शिक्षा केवल विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों तक सीमित करने का मतलब शेष जीवन से उसे काट देना है। नैतिक मूल्यों की शिक्षा का परीक्षण पुस्तकों या उत्तर पुस्तिकाओं में न होकर जीवन के आचरण में होता है। मूल्य भावनात्मक होते हैं। इससे संबंधित महत्त्वपूर्ण आयाम नैतिक मूल्यों की शिक्षा का है जो मुख्यतया व्यवहार से संबंधित है।

नैतिक शिक्षा को पूरे जीवन से जोड़कर देखना होगा। उसे सीमाओं और बँधनों में बाँधने का अर्थ है उसे नकार देना। जीवन से संपृक्त होने की वजह से जहाँ इसकी एक भूमिका विद्यालय एवं महाविद्यालय से जुड़ी हुई है, तो दूसरी भूमिका परिवार, समुदाय, देश और विश्व की स्थितियों-परिस्थितियों से भी तालमेल रखती है। यानी जिम्मेदारी है तो सबकी है और नहीं है तो किसी की भी नहीं। ऐसी जिम्मेदारियों का हस्तांतरण नहीं हुआ करता, उन्हें तो निभाना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि नैतिकता काल निरपेक्ष है-इसे केवल वर्तमान

के संदर्भ में आँकना और परखना इसकी व्यापकता को कम करना है। हम यह नहीं कह सकते कि कल की नैतिकता और आज की नैतिकता में अंतर है तथा आज की नैतिकता का आनेवाले कल की नैतिकता से कोई लेना-देना नहीं है। जो चीज त्रिकाल-सत्य हो, सर्वव्यापक तथा सार्वभौमिक हो, उसे काल विशेष की सीमा में कैसे बाँधा जा सकता है? इसका मतलब यह हुआ कि नैतिकता समाज की दोनों आवश्यकताओं-निरंतरता और परिवर्तन से जुड़ी हुई चीज है।

नैतिकता भौगोलिक सीमाओं की मुहताज नहीं है। जिस किसी देश के किसी महापुरुष ने सत्य की खोज़ की वह शोध समूचे मानवता की साझा धरोहर बन गई। ऐसी शोध का न तो पैटेंट या कॉपीराइट लिया जा सकता है, न यह सर्वाधिकार सुरक्षित रहती है और न इसपर किसी का मोहर ही रहता है। यही कारण है कि नैतिक शिक्षा के दायरे में विश्व का आज तक का सारा चिंतन और दर्शन समाया हुआ है। फिर चाहे सुकरात और अफलातून हों या कबीर, विवेकानंद, महात्मा गाँधी, भगवान महावीर, बुद्ध और डॉ० राधाकृष्णन इन सबके विचार नैतिक शिक्षा के अंग हैं, क्योंकि ये विचार संपूर्ण मानवता को समृद्ध करनेवाले हैं।

वर्तमान चुनौतियों को केंद्र में रखकर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के युग में नैतिक शिक्षा की प्रासंगिकता को रेखांकित किया जाना आवश्यक है। फिर उन सूत्रों की खोज की जाए जो साहित्य, कला या संस्कृति के जरिए हमारे व्यक्तित्व का विकास और चरित्र का उन्नयन करते हैं। हमारा मुख्य लक्ष्य नैतिक शिक्षा प्रदान करने के पीछे यह होना चाहिए कि व्यावहारिक जीवन में नैतिक शिक्षा को इस तरह मिला दिया जाए जैसे दूध में चीनी मिलाकर एकमेक हो जाती है। इसका परिणाम यह होगा कि हमारी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत की परंपराएँ कायम रहेंगी और साथ ही निरंतरता एवं बदलाव को भी गति मिलती रहेगी।

वैसे भी किसी ने ठीक ही कहा है-"एक इंजीनियर की गलती कुछ पुल व भवन ध्वस्त कर सकती है, एक चिकित्सक की गलती कब्रिस्तान में दफन में हो जाती है, परंतु एक शिक्षक की गलती संपूर्ण राष्ट्र को क्षति पहुँचाती है।"

केंद्र एवं राज्य सरकारों के बजट का एक बड़ा हिस्सा शिक्षा पर खर्च हो रहा है फिर भी शिक्षा जगत के हालात आम नागरिक को रोने पर मजबूर कर रहे हैं। न तो शिक्षक बदल रहे हैं, न शिक्षा पद्धति और न ही शिक्षा नीति निर्धारक। जबतक ये तीनों नहीं बदलेंगे हमारा विकास ठहरा हुआ विकास ही होगा, क्योंकि विकास की ओर सतत् गतिशील भारत के प्रत्येक क्षेत्र में हमारी राष्ट्रीयता के अभाव ने विकास की गति को मंद किया है और हम इस बात से अवगत हैं कि विकास की आधार शिला है-शिक्षा। और यह शिक्षा अर्थ और

प्रभावशाली लोगों के हवाले कर दी गई हैं। उच्च तकनीकी शिक्षा में प्रवेश का आधार योग्यता नहीं, बल्कि अर्थ और प्रभाव है। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ का यह कथन "अर्थ का अभाव और प्रभाव हिंसा का मूल कारण है" आज की शिक्षा नीति का आधार बन चला है।

जीवन विज्ञान शिक्षा:

वर्तमान शिक्षा प्रणाली के विषय में अक्सर कहा जाता है कि यह दोषपूर्ण है, क्योंकि विभिन्न प्रकार की डिग्रियाँ लेकर प्रतिवर्ष हजारों-लाखों छात्र निकल रहे हैं, किंतु वे दिशाहीन, दिग्भ्रमित और बेरोजगार हैं। दिशाहीन शिक्षण व्यवस्थाओं एवं शिक्षा की प्रणाली में आवश्यकता की पूर्ति हेतु 'जीवन विज्ञान' (Science of Living) विषय से शिक्षा जगत में एक अद्भुत परिवर्तन लाया जा सकता है।

समाज का मूल्य अहिंसा ही है और इसी आधार पर समाज बना है। आज आदमी इस बात को भूल-सा गया है। ऐसी स्थिति में हमें इस बात पर गौर करना होगा कि किस उपाय से अहिंसा के मूल्य को पुनः प्रस्थापित करें? इसके लिये बचपन से ही अहिंसा की आस्था उत्पन्न करने का प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योंकि बचपन के संस्कार इतने प्रभावी होते हैं कि बाद में आनेवाले संस्कार उनके सामने टिक नहीं पाते। जीवन विज्ञान की परिकल्पना बचपन से ही अहिंसा की आस्था के निर्माण के लिये की गई है। जिन मूल्यों को हम समाज में देखना चाहते हैं, विकसित करना चाहते हैं, उन सामाजिक मूल्यों को बचपन से ही प्रतिफलित करना आवश्यक है। उन मूल्यों के प्रति आस्था पैदा करने की आवश्यकता है। जीवन विज्ञान शिक्षा इसी चिंतन का परिणाम है।

हम सब इस बात से अवगत हैं कि भगवान महावीर ने अहिंसा के माध्यम से मानवीय चेतना को जगाने का काम किया क्योंकि उनका मानना था कि अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह-ये तीन समाज-रचना के आधार हैं और ये तीनों सामाजिक मूल्य हैं। अहिंसा के बिना समाज का निर्माण नहीं। सत्य के बिना समाज भी स्वस्थ नहीं बनता है और अपरिग्रह के बिना स्वस्थ समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। इन तीनों से व्यक्ति की भावना और धारणा में परिवर्तन लाया जा सकता है और आदमी को आदमी मान सकता है। इसी भावना-परिवर्तन के लिये जीवन विज्ञान शिक्षा की आवश्यकता महसूस की गई है।

जीवन विज्ञान एक संतुलित एवं परिपूर्ण विषय इसलिए है कि इसमें

बौद्धिक और शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक और भावात्मक विकास का संतुलन स्थापित किया गया है। मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री, दर्शनिक एवं सभी शिक्षाविद् इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि अनुशासन, नैतिकता, निष्ठा, ईमानदारी, दायित्वबोध, रुचियों एवं आपराधिक मनोवृत्ति का संबंध बौद्धिक विकास की अपेक्षा भावनात्मक विकास से संबंधित होता है। जीवन विज्ञान को परिपूर्ण इसलिए कहा गया है की इसमें सैंद्धांतिक पाठ्यक्रम के साथ-साथ प्रायोगिक पाठ्यक्रम के अभ्यास को भी इसका अत्यधिक अनिवार्य अंग माना गया है।

जीवन विज्ञान विषय के अंतर्गत नैतिक शिक्षा, अहिंसा प्रशिक्षण, मनोविज्ञान, मानव विज्ञान, समाज शास्त्र, दर्शनशास्त्र, योगशास्त्र आदि जीवन के लिए उपयोगी आयामों का समन्वय स्थापित किया गया है। जीवन विज्ञान विषय में मूलभूत अंग के रूप में अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान को रखा गया है। जहाँ तक अणुव्रत का सवाल है, इसका तात्पर्य है-व्यक्ति समाज और राष्ट्र में जन्म लेनेवाली बुराईयों को दूर कर नैतिकता से परिपूर्ण जीवन मूल्यों का विकास और चरित्र निष्ठ पीढ़ी का निर्माण करना। इसकी प्राप्ति के लिए साधन के रूप में प्रेक्षाध्यान को रखा गया है। प्रेक्षाध्यान से शारीरिक, मानसिक भावात्मक और आध्यात्मिक विकास तथा जीवन शैली में परिवर्तन किया जा सकता है। विभिन्न रोगों के निदान में भी इसके प्रयोग अतिमहत्त्वपूर्ण हैं, कई रोगों पर भी इसका शोधकार्य वर्तमान में चल रहा है।

"जीवन विज्ञान एक मात्र ऐसी-शिक्षा पद्धति है, जो व्यक्ति को केंद्र में रखकर अध्ययन, मनन, चिंतन तथा प्रायोगिक, व्यावहारिक एवं अखण्ड मानव समुदाय के लिए सार्वभौमिक स्तर पर पूर्णता के अर्थ में प्रकट होती है। जीवन विज्ञान शिक्षा से तात्पर्य सभी व्यक्तियों के प्राकृतिक, प्रगतिशील एवं व्यवस्थित विकास से है।" इन दिनों जीवन विज्ञान विषय विभिन्न विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में गत अनेक वर्षों से पढ़ाया जा रहा है। इसका पाठ्यक्रम प्राथमिक स्तर से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक उपलब्ध है। महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर, राजस्थान द्वारा इस विषय को स्नातक स्तर पर एक ऐच्छिक विषय के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। जीवन विज्ञान विषय का अध्ययन एवं अध्यापन तथा शोधकार्य शिक्षा जगत की अनेक कमियों को पूरा करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में जो पक्ष गौण है, उसको उभार कर यह उन्हें परिपुष्ट करता है। इसका अध्ययन विद्यालयों में जितना अधिक होगा उतना ही संतुलित जीवन सर्वांगीण व्यक्तित्व और स्वस्थ समाज की, राष्ट्र की संरचना में सहयोग मिलेगा।

वर्तमान दौर में भारतीय माता-पिता की शिक्षा में अरुचि का मुख्य कारण है कि शिक्षित होने के पश्चात् बच्चे खेती जैसे पारंपरिक व्यवसाय से विरक्त हो जाते हैं और उनकी शिक्षा के अनुरूप नौकरी उन्हें मिलती नहीं है। इस मूल समस्या को दूर किए जाने की आवश्यकता है। आज आदमी का अनुभव यह बताता है कि सॉफ्टवेयर जैसे क्षेत्रों में मुट्ठीभर शिक्षित लोगों के लिए ही रोजगार उत्पन्न हो रहे हैं। आज माध्यमिक विद्यालय एवं स्नातकों के लिए रोज़गार उपलब्ध नहीं हैं। इसके मद्देनजर सुझाव यह है कि रोजगार भक्षण करनेवाली तकनीकों जैसे हार्वेस्टर एवं एक्सकावेटर पर प्रतिबंध अथवा भारी कर लगाया जाए। बड़े उद्योगों एवं विदेशी निवेश को स्वीकृति देते समय श्रम ऑडिट कराना चाहिए ताकि पता चल सके कि अप्रत्यक्ष रूप से कितने रोजगारों का भक्षण होने जा रहा है। कृषि के स्थान पर सेवा क्षेत्र के विस्तार पर ध्यान देना चाहिए। जीवन विज्ञान शिक्षा से इस समस्या का समाधान निकल सकता है, क्योंकि इसमें सैद्धांतिक पाठ्यक्रम के साथ-साथ प्रायोगिक पाठ्यक्रम का भी प्रावधान है।

नई शिक्षा नीति की अनिवार्यता:

कुल मिलाकर देखा जाए तो अभी तक हमारी ऐसी शिक्षा नीति नहीं बनी, जिसमें राष्ट्रीयता की झलक हो। इसलिए जरूरत इस बात की है कि इस देश में अपनी एक नई शिक्षा नीति बनायी जाए, जो उत्कृष्ट सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं नैतिक मूल्यों पर आधारित हो। जबतक हम अपने समाज, देश, सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों को नहीं पहचानेंगे, तबतक हमारी शिक्षा अधूरी रहेगी, हमारी भारतीय पहचान नहीं बन पाएगी। भारतीयता की अपनी पहचान बनाने से ही देश को हम गौरवान्वित कर सकेंगे तथा देश के नवनिर्माण के लिए कार्य कर सकेंगे। इसलिए हर हाल में मैकाले की शिक्षा नीति का त्याग हमें करना होगा और नई शिक्षा नीति बनाने के लिए प्रतिबद्ध होना होगा।

राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने भी पिछले दिनों जामिया मिलिया के दीक्षांत भाषण में अफसोस जाहिर किया कि भारत की शिक्षा पद्धति मैकाले की शिक्षा नीति से अभी तक बँधी है जिसे उखाड़ फेंकने की उन्होंने आवश्यकता जताई, क्योंकि इससे देश का बड़ा अहित हुआ है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि भारत के विकास के लिए अँग्रेजों ने भाषा के माध्यम के रूप में संस्कृत और फारसी को स्थापित करना चाहा था जिस पर मतैक्य नहीं होने के चलते इस मुद्दे पर विधि प्रतिनिधि मैकाले को अध्ययन कर रिर्पोट करने को कहा गया था। मैकाले ने अपनी रिर्पोट में भारत को बर्बर, अशिक्षित और पिछड़ा हुआ कहते हुए विज्ञान की शिक्षा और अँग्रेजी भाषा को शिक्षा का

माध्यम बनाने की सिफारिश की थी और उसने यह भी कहा था कि अँग्रेजी भाषा से हम भारतीयों को सदियों तक गुलाम बनाए रख सकते हैं। भारत ने आजादी की लड़ाई लड़ी पर आज तक अँग्रेजी की गुलामी से पिंड नहीं छूट सका। वस्तुत: मैकाले ने भारत की विरासत और सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना की उपेक्षा कर अँग्रेजी को भाषा के माध्यम से शिक्षा नीति बनाई थी, वह अब भी पूरी तरह बरकरार है। आज भी हम अँग्रेजी के व्यामोह में पड़े हुए हैं और इसी का परिणाम है कि हमारे विकास की गति अवरूद्ध है। विकास के लिए पाश्चात्य देशों एवं उसकी भाषा का अनुसरण घातक सिद्ध हो रहा है। हमें इस मानसिकता का त्याग करना ही होगा और अपनी सांस्कृतिक विरासत एवं राष्ट्रीय संदर्भों में बनायी गई नई शिक्षा नीति को अपनाना होगा, क्योंकि शिक्षा ही सर्व उन्नति का मूल है, इसकी सार्थकता तभी संभव है, जब शिक्षा जगत में नेकनीयती भरी पवित्रता, एकरूपता, सार्वभौमिकता, समदर्शिता और राष्ट्रीयता का पुट हो।

खबर है कि पेंगुइन प्रकाशन समूह भारतीय भाषाओं और हिंदी में भी अपना प्रकाशन प्रारंभ करने जा रहा है। हिंदी में विदेशी प्रकाशकों के आने से हालात में सुधार होगा। पेंगुइन के आने से विदेशों में भी हिंदी के बाजार पर बल दिया जाएगा।

इसके साथ ही एक चिंता की बात यह है कि इधर विद्यार्थियों का विज्ञान की पढ़ाई से मुँह मोड़ना समाज के नजरिए में बदलाव का सूचक है। एक समय था जब प्रतिभा का मानदंड ही विज्ञान हुआ करता था। प्रतिभाशाली छात्र डॉक्टर या इंजीनियर बनने का सपना देखते थे। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आँकड़ों के अनुसार पचास के दशक में 31 फीसदी छात्र विज्ञान का अध्ययन करना चाहते थे, लेकिन नब्बे के दशक में यह संख्या घटकर 20 प्रतिशत रह गई। नए दौर में रोजगार के और भी कई विकल्प सामने आये हैं। सामाजिक हैसियत का आधार अब धन हो गया है। लेकिन क्या शिक्षा का मकसद सिर्फ नौकरी ही है? शिक्षा को सिर्फ रोजगार तक सीमित कर देने का अर्थ तो यह होगा कि हम मौलिकता की आशा ही छोड़ दें और मान लें कि हमारा देश अब वैज्ञानिक पैदा नहीं कर सकता। यह अन्वेषण और आविष्कार ही नहीं, कल्पनाशीलता की भी विदाई होगी जो चिंता का विषय है।

●

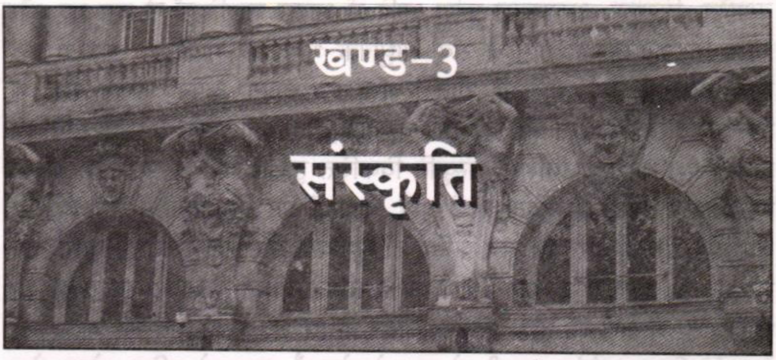

'अनेक संस्कृतियों और जातियों के मिलने से भारतीय 'संस्कृति में जो एक प्रकार की विश्वजनीनता उत्पन्न हुई, वह संसार के लिए सचमुच, वरदान है और पिछले दो सौ वर्षों से सारा संसार उसका प्रशंसक रहा है।'

– राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर'

विशिष्ट संस्कृति

भारत एक विकासशील देश है जिसका संविधान इस सच्चाई को मानता है कि यह राष्ट्र एक भौगोलिक प्रभुत्ता-संपन्न लोकतांत्रिक देश है, जिसमें कई धर्मों के अनुयायी, कई भाषाओं के बोलने वाले, कई संस्कृतियों को मानने वाले, विभिन्न रीति-रिवाजों को निभाने वाले लोग समान अधिकार से रहते हैं और उन्हें इन अधिकारों से धर्म, जाति, क्षेत्र अथवा भाषा के आधार पर वंचित नहीं किया जा सकता। यही इस विशाल भारत का वास्तविक स्वरूप है।

भारत की अपनी एक संस्कृति है। इस संस्कृति का अपना एक वैषिष्ट्य है। इस संस्कृति के पास अपने कुछ आधारभूत सिद्धांत हैं, मूल्य हैं और अपना एक दर्शन है। इस दर्शन का आधार है। चूंकि सर्वत्र एक ही चेतना व्याप्त है इसलिए मानव-मानव में भेद नहीं होना चाहिए।

एक सौ पाँच करोड़ की जनसंख्यावाले इस विशाल देश में छह बड़े धर्मों के अनुयायी, सैकड़ों संप्रदायों, अठारह मुख्य भाषाएँ और हजारों जातियों-उपजातियों के लोग रहते हैं और हजारों वर्षों से रहते आए हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों की वेश-भूषा, खानपान, व्यवहार व आचरण, लोकगीत व लोक-नृत्य और त्योहार अलग-अलग हैं। विभिन्न देशों से कई नस्लों के लोग यहाँ के उत्तरी-पूर्वी राज्यों

नगालैंड, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश आदि में आकर शताब्दियों से बस गए और भारत के नागरिक हो गए। वे सब आधुनिक भारत के भौगोलिक क्षेत्र में कई विचारधाराओं, धर्मों, भाषाओं, रीति-रिवाजों एवं अपनी-अपनी जीवन-शैली में विश्वास करते हैं। भारत जैसे बहुधर्मी, बहुभाषी, बहुनस्लीय और बहुक्षेत्रीय विविधतावाले देश की एक विशिष्ट संस्कृति विकसित हुई है जो धर्म पर नहीं, बल्कि विविधता में एकता, सहृदयता, सभी धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों में समन्वय और सामंजस्य पर आधारित है। सच कहिए तो समन्वय और सुरुचि का ही दूसरा नाम संस्कृति है। शरीर में जो स्थान प्राण का है समाज जीवन में वही संस्कृति का है। यानी शरीर में प्राण की तरह संस्कृति जीवन के हर क्षेत्र में अनुभव की जा सकती है। संस्कृति का संबंध आदमी के मन से होता है। मन को उचित भोजन देना संस्कृति से संबंधित संस्थाओं का काम होता है। वस्तुत: संस्कृति की संकल्पना इस आधार पर बनी कि इसका संबंध हमारी आध्यात्मिक आवश्यकताओं, मन की अर्थात् मन की भूख से होता है। आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आमतौर पर आदमी धर्म या ईश्वर की तरफ भागता है, किंतु सही मायनों में इसकी पूर्ति संस्कृति से होती है। दूसरी ओर सभ्यता का संबंध शरीर की भूख से होता है जिसके चलते आदमी भौतिक सुखों की ओर भागता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक आवश्यकताएँ उपेक्षित होती हैं। इसीलिए इतिहासवेत्ता का मानना है कि सभ्यता का स्वर्णकाल संस्कृति का अवसान काल होता है। जब सभ्यता का पलड़ा ऊँचा होता है तो संस्कृति का पलड़ा नीचे आ जाता है और इसके विपरीत जब संस्कृति का पलड़ा ऊँचा होता है, तो सभ्यता का पलड़ा नीचे आता है।

इस वक्त सभ्यता का पलड़ा भारी है। आज मनुष्य अपनी भौतिक जरूरतों को पूरा करने में बेतहाशा बढ़ता जा रहा है। जैसे भूख से व्याकुल नागिन अपने ही बच्चों को खा जाती है, वैसे ही भौतिक सुखों के लिए लालायित एवं बौराई सभ्यता अपने आध्यात्मिक स्रोतों को खाने लगी है। यही कारण है कि राजसत्ताएँ संस्कृति अर्थात् साहित्य कलाओं का इस्तेमाल अपने उद्देश्यों के लिए बड़ी तेजी और खुले तौर पर करने लगी हैं। संस्कृति में निहित साहित्य, संगीत, कला विहिन मनुष्य को पशु कहा गया है, ये कलाएँ मनुष्य का मनोरंजन भी करती हैं, लेकिन सिर्फ मनोरंजन करना इनका काम नहीं होता। ये मन को स्वस्थ बनाती हैं। मन का परिष्कार करती हैं और मनुष्य को सत्य, शिव तथा सुंदर के संपर्क में लाकर उसकी आध्यात्मिक भूख को तृप्त करती है। मनुष्य को अँधकार से प्रकाश की ओर, असत से सत की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने का काम ये कलाएँ ही करती हैं।

संस्कृति संबंधी भारतीय अवधारणा

मनुष्य अपनी जीवन-दृष्टि से जो संरचना करता है उसमें उसकी संस्कृति दिखाई देती है। संस्कृति की भारतीय अवधारणा व्यक्ति से लेकर समाज, राष्ट्र, विश्व व प्रकृति तक एकात्मभाव के दर्शन कराती है, परस्पर समन्वय की प्रेरणा देती है। इसमें टकराव, संघर्ष तथा स्पर्धा के लिए कहीं स्थान नहीं है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता वास्तव में अद्‍भुत है। आखिर तभी तो बीसवीं सदी के अद्‍भुत विचारक और विश्व-मानवता के अपूर्व उपासक स्व. रोम्यों रोलाँ ने लिखा है कि अगर 'इस धरती पर कोई एक ऐसी जगह है, जहाँ सभ्यता के आरंभिक दिनों से ही मनुष्यों के सारे सपने आश्रय और पनाह पाते रहे हैं, तो वह जगह हिंदुस्तान है।' इसी प्रकार, 19 वीं सदी में अपनी अपूर्व शक्ति से सारे यूरोप को चौंका देनेवाले मैक्समूलर ने एक जगह लिखा है कि "अगर मैं अपने आपसे यह पूछूँ कि केवल यूनानी, रोमन और यहूदी भावनाओं एवं विचारों पर पलनेवाले हम यूरोपीय लोगों के आंतरिक जीवन को अधिक समृद्ध, अधिक पूर्ण और अधिक विश्वजनीन, संक्षेप में, अधिक मानवीय बनाने का नुस्खा हमें किसी जाति के साहित्य में मिलेगा, तो बिना किसी हिकिचाहट के मेरी उँगली हिंदुस्तान की ओर उठ जायगी।" राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने संस्कृति के चार अध्याय में इसीलिए तो लिखा कि ''अनेक संस्कृतियों और जातियों के मिलन से भारतीय संस्कृति में जो एक प्रकार की विश्वजनीनता उत्पन्न हुई, वह संसार के लिए सचमुच, वरदान है और पिछले दो सौ वर्षों से सारा संसार उसका प्रशंसक रहा है।" इस प्रकार भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता रही है कि इसने विभिन्न जातियों को एक महाजाति के साँचे में ढालने तथा अनेक वादों, विचारों और धर्मों के बीच एकता लाने का प्रयास प्रायः सभी युगों में किया है।

सांस्कृतिक पुष्टता और विशिष्टता किसी भी समाज के लिए उसकी स्वस्थ सामाजिक संरचना का आधार होती है। संस्कृति मनुष्य का अपने अतीत से जुड़ाव का माध्यम होती है, साथ ही भविष्य की ओर अग्रसरित होनेवाली शक्ति का निर्माण करती है। संस्कृति ही सुदृढ़ भविष्य की नींव बनती है और एक सशक्त भवन के निर्माण में नींव की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता। भारतीय संस्कृति ही विदेशियों को यहाँ तक खींच लाती है। अतएव हम भारतवासियों का यह दायित्व बनता है कि हम संस्कृति के नाम पर जहर फैलाने की अनुमति नहीं दें और पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति का अँधानुकरण न कर अपनी विरासत के सहारे ही सबल राष्ट्र का निर्माण हमें करना है। आज समाज पर एक नजर डालें तो आप उसके लोगों में नैतिक मूल्य-मर्यादाओं का ह्रास ही देखेंगे जो चिंता का विषय है। इसलिए समाज की समृद्धि के लिए आज जरूरी है लोगों की नैतिक मूल्य-व्यवस्था को बनाए रखा जाए तभी राष्ट्र को सही मायने में शक्ति-संपन्न और समृद्ध बनाया जा सकता है।

आधुनिक राष्ट्र का निर्माण अकेले संस्कृति के आधार पर नहीं होता अन्यथा धर्म के नाम पर बना पाकिस्तान दो टुकड़ों में कैसे बँट गया? ऐसी स्थिति में जबतक हम भारत राष्ट्र के सत्य और उसके वास्तविक प्राणत्व को स्वीकार नहीं करेंगे तब तक सबल राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती। आज की दिग्भ्रमित राजनीति धर्म-संप्रदाय में उलझी हुई है। उससे न तो हमारी समस्या का समाधान निकल पा रहा है और न ही देश व समाज को सुरक्षा मिल रही है। शक्ति-संपन्न और समर्थ होने के लिए हमें अपने भ्रम को दूर करना होगा। हमारे यहाँ समाज और शासन के तमाम स्तरों पर संस्कृति को लेकर कई प्रकट एवं प्रच्छन्न-सूक्ष्म और स्थूल पाखण्डों की शृंखला-सी है, इसकी वजह से अक्सर संस्कृति का सवाल अपनी सामाजिक और ठोस रचनात्मक जड़ों को उखाड़कर दलीय राजनीति के वैचारिक शून्य को भरने का बहाना बन जाता है। हालांकि हमारा समाज अभी यह मानने को तैयार नहीं है। यहाँ आधुनिकता और परंपरा के बीच इतनी सीढ़ियाँ हैं कि एक किशोर जोड़ा प्रेम के अपराध में गाँव के चौपाल पर गँड़ासे से काट दिया जाता है। निश्चित रूप से आज यहाँ एक संवदेनशील और भोगवादी पीढ़ी विकसित हो रही है जिसे सुधारने का कोई तकनीक विकसित करने की कोशिश नहीं हो पा रही है। सच तो यह है कि अति भोगवादी संस्कृति के अँधानुकरण के दुष्परिणाम हम विभिन्न क्षेत्रों में भुगत रहे हैं। समाज के नैतिक पतन में भी इस कुसंस्कृति का बहुत बड़ा हाथ है। अतएव आवश्यकता आज इस बात की है कि अपसंस्कृति को मिटाकर स्वस्थ सांस्कृतिक वातावरण गढ़ा जाए।

संस्कृति व्यापक-अर्थबोधक

'संस्कृति' शब्द अत्यंत व्यापक एवं गंभीर अर्थ का बोधक है। विज्ञान में संस्कृति का अर्थ 'समस्त सीखा हुआ व्यवहार' होता है अर्थात वे सब बातें जो हम समाज के सदस्य होने के नाते सीखते हैं। इस अर्थ में देखा जाए तो संस्कृति शब्द परंपरा का पर्याय है। शरीर और आत्मा की तरह सभ्यता एवं संस्कृति जीवन की दो भिन्न प्रेरणाओं को व्यक्त करती हैं। सभ्यता जीवन का रूप है और संस्कृति उसका सौंदर्य है। सभ्यता का अर्थ है, समाया हुआ। समाज में रहने की योग्यता अर्थात् सामाजिक समता, जो सामाजिक विधि-निबेध पर जोर देती है। 'सभ्यता' शब्द 'समान' शब्द से बना है, जिसका मुख्य अर्थ सभा में बैठने की योग्यता है। सभा में शिष्टाचार का पालन किया जाता है। इसके अतिरिक्त सभ्यता का संबंध नागरिकता से भी है। सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में संस्कृति शब्द अधिक व्यापक है और विशुद्धि का द्योतक है। सभ्यता के अनुकूल संस्कृति परिणत होती

है। संस्कृति का संबंध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव और मन प्रवृत्तियों से होता है। 'भारत की खोज' पुस्तक में जवाहरलाल नेहरू ने सभ्यता और संस्कृति का अंतर इस प्रकार स्पष्ट किया है- ''समृद्ध सभ्यता में संस्कृति का विकास होता है और उससे दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित विकसित होते हैं। इस तरह संस्कृति बौद्धिक उन्नति का पर्यायवाची है और सभ्यता भौतिक विकास का समानार्थी है। सभ्यता वाह्य क्रियात्मक रूप है, संस्कृति विचारधारा का परिणाम है।''

भारत की अपनी विशिष्ट संस्कृति है। यह जड़ एवं अपरिवर्तनशील नहीं है। 'भा' का अर्थ है प्रकाश, 'भारत का अर्थ है प्रकाश में रत अर्थात दत्तचित्त होकर प्रकाश में रत रहना ही भारत है।

उपभोक्तावादी संस्कृति

विज्ञापनवाद भी हमारी संस्कृति को प्रदूषित कर रहा है। यहाँ आज हर कोई बेचा जा रहा है चाहे वह खिलाड़ी हो या अभिनेत्री, नौजवान हो या बच्चे, विज्ञापन बनकर मैदान में उतरना अपना परम सौभाग्य समझते हैं। विज्ञापन उद्योग नई पीढ़ी को सर्जनात्मकता की ओर न ले जाकर उपभोक्ता बनने की और संसार को भोग-उपभोग का मेला मानने की सीख दे रहा है। सबसे चिंता का विषय तो यह है कि मुक्त मंडी का मीडिया व्यक्ति और विचारों को भी विज्ञापनबाजी के हथकंडों से बेच रहा है और हमारी संवेदनाएँ भी फ्लॉपी में कैद हो रही हैं। प्रचार की इस बाढ़ में आमजन का विवेक डूबता जा रहा है जो मानवतावादी विवेकशील लोकतंत्र के भविष्य के लिए खतरे का संकेत है। विज्ञापन और समाचार पत्रों में आज जो तस्वीरें प्रकाशित की जा रही हैं और उनके शीर्षकों में जिस भाषा का प्रयोग किया जा रहा है वह हमारी भारतीय संस्कृति की शालीनता को तो ठेस पहुँचा ही रही हैं, उसका दुष्परिणाम हमारे समाज के लोगों को भी भुगतना पड़ रहा है। दिल्ली विश्वविद्यालय में सरेआम छात्र से बलात्कार, मौलाना आजाद मेडिकल कॉलेज की छात्रा से दिन दहाड़े मुख्य सड़क के किनारे किशोरों द्वारा बलात्कार, भाई-बहन द्वारा माँ की हत्या, तीन स्कूली छात्रों द्वारा सहपाठी छात्र की हत्या और लाश को पैट्रोल छिड़ककर जलाना और अभी-अभी कुछ दिनों पूर्व राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली के एक महत्त्वपूर्ण इलाके में विदेशी महिला राजनयिक के साथ व्यस्त सड़क पर बलात्कार की घटनाएँ - क्या इन यौन छवियों का दुष्परिणाम नहीं? क्या इससे हमारी संस्कृति पर आँच नहीं आती और सिर शर्म से नहीं झुकता?

बाजार व्यवस्था ने संस्कृति को सिर्फ मनोरंजन तक सीमित कर दिया है। बाजार की शक्तियों के इशारे पर चलनेवाली सरकारों ने भी संस्कृति के नाम पर सस्ते मनोरंजन की व्यवस्था कर अपने फर्ज से छुट्टी पा ली है। संस्कृति को भी पैसे कमाने का उद्योग बना दिया गया है। एक बार जब कोई देश मंटों की कहानी 'खोल दो' के अंदाज में अपने को विश्व बाजार के लूटेरों के लिए खोल देता है तो फिर उसके लिए आर्थिक या सांस्कृतिक बलात्कार से बचने की कोई संभावना नहीं रहती। आर्थिक बलात्कार का उदाहरण एनरॉन कंपनी का ठेका है। सांस्कृतिक बलात्कार जिसके आजकल हम सब शिकार हो रहे हैं, मीडिया और सूचना-तंत्र को विदेशी निवेशकों के लिए खोल देने का परिणाम है।

पिछले कुछ समय से देश में अश्लीलता की जैसे बाढ़-सी आ गई है। टी.वी. सी.डी., मोबाइल एवं कैमरा मोबाइल फोन का मनुष्य के हित के लिए ईजाद किया गया था, किंतु इनका गलत प्रयोग शुरू हो गया। अश्लीलता सी.डी. या इंटरनेट के माध्यम से पहले सिर्फ टी.वी. के पर्दे तक ही सीमित थी, पर अब तो यह उतर कर मोबाइल की स्क्रीन पर भी सुलभ हो गई है जिसका असर सीधे-सीधे किशोर वर्ग पर पड़ रहा है। किशोरों का कामुक अपराधों की ओर उन्मुख होना ही इसका अशुभ संकेत है। इस तरह की घटनाएँ इस देश की विश्व भर में सम्माननीय स्थान प्राप्त हमारी संस्कृति पर सीधा कुठाराघात करके दीमक की तरह चटकर रही है। दूसरी ओर पश्चिमी उपभोक्तावादी अपसंस्कृति इस देश की राष्ट्रीयता को चुनौती देने का अवसर प्रदान कर रही है। जब आत्मनिषेध, आत्मविस्मृति एवं आत्मनिंदा को प्रगतिशील तथा आधुनिक होना बताया जाने लगता है, तो देश का गुलाम हो जाना अवश्यंभावी हो जाता है। इस लिहाज से हम गुलाम नहीं हो रहे हैं, गुलाम हैं।

भारत की राजनीतिक आजादी और भौगोलिक विभाजन के बाद हमने भौतिक समृद्धि का निर्माण करने का जो ताना-बाना बुना उसका आधार हमारी अपनी प्रतिभा, प्रकृति, प्रवृत्ति, परंपरा और भारत की राष्ट्रीय चिति सब कुछ जैसे समाप्त होते जा रही है। हम यह भूल जाते हैं कि भारत की सांस्कृतिक धारा में अनेकता में एकता का अमृतत्त्व है। क्या इसकी अनेकता और एकता की रक्षा वे लोग कर सकते हैं जो इसे एक नहीं अनेक राष्ट्रों का संघ या समुदाय मानते हैं? क्या भारत की विविधता किसी पुस्तक, पैगंबर, ईसा मसीह या किसी एक उपासना पद्धति के प्रतिबद्ध लोगों के कारण बनी और अक्षुण्ण है? केवल उपभोक्ता बने रहना और सुविधाभोगी जीवन जीना ही जिनका जीवनोद्देश्य हो, वे लोग क्या स्वावलंबी बनने का खतरा उठा सकते हैं? आत्मा का मूल्य देकर अर्थोपार्जन करनेवाले पराधीन ही होंगे, स्वावलंबी और स्वाधीन नहीं।

हमारी संस्कृति का यूँ ही पाश्चात्यीकरण जारी रहा तो 'बिन फेरे हम तेरे' जीवन-शैलीवाला सहज बँधनमुक्त रिश्ता भारतीय संस्कृति के लिए एक खतरनाक संकेत होगा।

आज से कोई डेढ़ सौ वर्ष पहले स्वामी विवेकानंद ने घोषणा कर दी थी कि भारत के उच्च वर्ग नैतिक रूप से मर चुके हैं। यदि उच्चतर वर्ग का अर्थ सीधे सत्ता काबिज वर्गों से लगाया जाए तो बात आज के परिदृश्य में सवर्ण और असवर्ण दोनों ही वर्गों के सत्तावान नेताओं पर बखूबी फिट बैठती है। इस वर्ग की पाशविक स्वार्थपरता, अमानवीय समझौता राष्ट्रीय समस्याओं पर पर्दा डाल रही है। इस काम में, उनकी मदद करते हैं हमारे छोटे या मझौले कद के वे अनेक नेता, कलाकार एवं कवि-रचनाकार जो पद-पुरस्कार या प्रतिष्ठा के लोभ में सत्ताधारियों के आस-पास मँडराते रहते हैं। उनकी यह जमात राजनेताओं के स्वार्थों के लिए सार्वजनिक रूप से मानवीय ओट बन जाती है। दिल्ली के तंदूर कांड और उत्तर प्रदेश की मधुमिता की हत्या की घटनाएँ इस बात की पूरी तरह संपुष्टि करती हैं। ऐसी घटिया और विषैली संस्कृति को घोषित और सार्वजनिक रूप से तिलांजलि देनेवाले नेतृत्व वर्ग को सामने लाने की जरूरत है और जबतक ऐसा नहीं होता तबतक अपने लंबे इतिहास और दार्शनिक परंपरा के बावजूद भारत सांस्कृतिक तथा राजनैतिक रूप से दुनिया का एक रूग्ण और नगण्य देश ही बना रहेगा। इसलिए समय का तकाजा है कि आजादी के नाम पर समाज में हो रहे भौंड़े प्रदर्शन पर रोक लगायी जाए, क्योंकि उसी के कारण हमारा नैतिक आचरण प्रभावित हो रहा है।

आधुनिकता बेशक एक सच्चाई है, किंतु आधुनिकता का आतंक कभी ठीक नहीं होता। अतीत से कटी आधुनिक सोच दरअसल इस्लामी आक्रामकता और अँग्रेजी साम्राज्यवाद के षड्यंत्रों का परिणाम है। आज संसार की हर संस्कृति और सभ्यता अर्थ-प्रधान जीवन-दर्शन की पक्षधर है। भौतिकवाद की ओर तेजी से बढ़ती लिप्सा से आज एक ऐसी उपभोक्ता-प्रधान संस्कृति का जन्म हुआ है, जिसमें मानव मात्र एक यंत्र बनकर रह गया है। इस भौतिकवादी संस्कृति में मानवतावादी एवं नैतिक मूल्यों का जैसा ह्रास हुआ है और राष्ट्र-स्तर पर जिस प्रकार स्वार्थवाद और भोगवाद बढ़ रहा है, उसके दुष्परिणाम आज सामने हैं। इस भोगवाद में स्वयं की संतुष्टि ही प्रधान है, जबकि सच तो यह है कि इंद्रियों की भूख को कभी भी कोई शांत नहीं कर सका।

आज संस्कृति के दिन-व-दिन अभिनव प्रयोग हो रहे हैं। सभ्यता के विकास के साथ संस्कृति से पता नहीं किन-किन कृत्यों की अभिव्यक्ति होने लगी है। कभी भारतीय जीवन में संस्कृति से अभिप्राय धर्म, दर्शन, इतिहास और रीति-रिवाज ही रहा होगा, संस्कृति से मतलब मानसिक-आध्यात्मिक समृद्धि से

रहा होगा पर आज के दूरदर्शन युग में वह भौतिक समृद्धि से अधिक संबंधित है। संस्कृति को पुराने अर्थों में चर्चा और भारतीय संस्कृति की अखण्ड धारा के मूल्य-बोध का ढिंढोरा पीटकर उसका लोकतांत्रिक वोटों में भुनाने की चेष्टा आज कहाँ तक कारगर होगी, कहा नहीं जा सकता, क्योंकि हम पश्चिमी समाज के रूपों का, जिसे घृणित, राक्षसी अथवा पाशविक समाज कहते आए हैं, आज उसी पश्चिमी समाज के मूल्यों को भुगतने की नयी-नयी सुविधाओं का भोग करने से नए संस्कार बन रहे हैं। यही संस्कृति अब मूलत: उपभोक्तावादी बन चुकी है जिसे हम अपसंस्कृति, भोगवादी संस्कृति, संस्कारों में गिरावट, सांस्कृतिक आक्रमण अथवा अतिक्रमण कह सकते हैं। दूरदर्शन और जीवन शैली के बदलते मूल्यों ने हमारी पुरानी संस्कृति में भीतरघात किया है। उपभोक्तावादी अपसंस्कृति का नतीजा है कि हम गैरजरूरी चीजों को जरूरी बनाते जा रहे हैं। गरीब और अभावग्रस्त देश के लोग विज्ञापनों के जादुई आकर्षण के कारण अवांछनीय चाहत के शिकार बनते जा रहे हैं। आकाशी टी०वी० अपने हमें अतीत से अधिक दूर करता जा रहा है।

उपभोक्तावादी संस्कृति इंसान को बाजार के नियमों से संचालित करती जा रही है। बाजार की कीमत में नैतिकता का कोई भाव नहीं होता। संस्कृति कभी सुवासित संस्कारों की प्रेरिका थी पर आज की संस्कृति की सभी मुख्य धाराएँ सौदे की, उपभोक्तावाद की है। सौदे की इस संस्कृति का परिणाम है कि विषमताएँ बढ़ रही हैं, क्योंकि समझौते से एक पक्ष को फायदा और दूसरे पक्ष को कम फायदा होता ही है। आनेवाली पीढ़ी को इसके अपरिहार्य परिणाम भुगतने ही होंगे, क्योंकि जीवन की प्रतिस्पर्धा में बने रहने तथा जीवित रहने के लिए यह उनकी मजबूरी होगी।

सांस्कृतिक चेतना का विकास

इधर पिछले कई वर्षों में इस देश के हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन तथा बौद्ध धर्मों में स्पर्धा का भाव बढ़ा है। लोकतांत्रिकता और स्वतंत्रता के पक्षधर समाज के लिए यह जरूरी है कि प्रत्येक प्रकार की कट्टरता और संकीर्णता को बहस और समीक्षा के दायरे में लाया जाए। धर्मांध समय में धर्मनिरपेक्ष समीक्षा का विकास करना चुनौती भरा काम है खासकर तब जब हिंदुत्ववादी तत्त्व पंथनिरपेक्ष विचार को ही सागर में फेंक देने पर अमादा हों ऐसे समय में सेकुलर विमर्श को बनाए-बचाए रखना बड़ी बात है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस देश की मिट्टी ने भारत को संस्कृति प्रदान की है। इस धरती के कण-कण में संस्कृति की कथाएँ सिसक रही हैं। इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बिहार के राजगीर, नालंदा, पावापुरी

तथा वैशाली की भूमि में बौद्ध एवं जैन धर्म की नीवें पड़ी हैं। यहाँ की धरती फोड़कर निकलती हुई पंक्तिबद्ध कमरों की दीवारें जहाँ बौद्ध धर्म की गौरव गाथा कह रही हैं, वहीं पावापुरी का निर्वाण-स्थल भगवान महावीर की अहिंसा की ज्योति फैला रहा है और जिसमें मगध की संस्कृति सुरक्षित है। हमारी गौरवशाली संस्कृति और हमारे क्रमिक इतिहास की झाँकी प्रस्तुत करनेवाला राजगृह और नालंदा के साथ-साथ पटना साहिब की पवित्र भूमि और गुरु गोविंद सिंह की जन्मस्थली सिख धर्म की कहानी कह रही है।

अपने अतीत की इस गौरवमयी कहानी का ज्ञान नयी पीढ़ी को होना चाहिए। यदि पीढ़ियों को लगातार यही बताया जाय कि उनकी अपनी संस्कृति और सभ्यता नीचे की श्रेणी की है तो निश्चित रूप से उनके भीतर एक हीनभावना जाग्रत हो जायगी। हीनभावना से ग्रस्त लोग कभी भी बड़े निर्णय नहीं ले सकते हैं। जैसा कि मैंने पूर्व में कहा कि भारतीय संस्कृति हमारे सद्गुणों के विकास में सहायक रही है। सद्गुण हमें जन-कल्याण की ओर प्रेरित करते हैं। परोपकार, दया, ममता, समता सद्गुणों की ही देन है। 'सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया' की भावना से ओत-प्रोत है। महात्मा बुद्ध और भगवान महावीर के 'अहिंसा परमोधर्मः' एवं 'सत्यंवद' के पावन उपदेश ने हमारी सांस्कृतिक चेतना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वैशाली में प्रथम गणतंत्र के स्थापनाकाल में 'बहुजन हिताय' के जो सिद्धांत उन्होंने बताए--वे राजनीति-प्रेरित नहीं, संस्कृति-प्रेरित थे। आपसी सद्भाव और विश्व-बंधुत्व की भावना को समस्त विश्व में फैलानेवाले सम्राट अशोक ने राजनीतिक नहीं, सांस्कृतिक चेतना के माध्यम से इस देश को गरिमा प्रदान की। तत्कालीन शासन के समस्त कार्यकलापों में संस्कृति की सुगंध पिरोई हुई थी जिसे हम आज विस्मरण करते जा रहे हैं। इसलिए आज जरूरत इस बात की है कि सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए संस्कृति की गंगा बहाई जाय ताकि समाज में व्याप्त दुराचार और दुराचारी के सामने निर्भय होकर खड़े होने की शक्ति प्राप्त हो सके।

भारतीयता अपने आप में एक बड़ा दर्शन है। पाश्चात्य देशों के अनुकरण पर हमारे यहाँ घुसपैठ करनेवाली किसी भी उपभोक्तावादी संस्कृति को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह हमारे जीवन को दंशित करे।

पश्चिमी संस्कृति का आगमन

विगत कई दशक से पश्चिमी सभ्यता की तीव्र प्रगति के कारण मनुष्य जाति इतिहास की अप्रतिम ऊँचाइयों पर जा पहुँची है। हम सब साक्षी हैं कि पश्चिम की संस्कृति आज पूरब के देशों में अबाध रूप से फल-फूल रही है।

पश्चिमी संस्कृति ने आज पूरे संसार को समरूपता की भूमण्डलीकरण-संस्कृति के लगभग अलंध्य घेरे के भीतर खींच लिया है। टेक्नॉलाजी का ब्रह्मास्त्र प्राप्त कर वह असीम शक्ति के अहंकार से भर गया है। सारी दुनिया की आतंकी और कातिल निगाहें उसकी ओर उठी हुई हैं, इस आशय के साथ कि उसकी क्षणिक अभय मुद्रा की झलक पा सके। प्रगति की बेरोकटोक रफ्तार है, जो यूरोप के अभय-वन से निकलकर एशिया और अफ्रीका के वियाबान में हलचल मचा रही है। इसकी नित नई चकाचौंध से मुग्ध होकर हम भारतीय भी आकांक्षाओं के मुक्त आकाश का स्वप्न देखने लगे।

आजादी के पश्चात् भारतीय मध्य वर्ग में विदेशी वस्तुओं के प्रति आकर्षण बहुत तेजी से पनपा और पश्चिम पूँजी एवं प्रविद्या के साथ-साथ उसकी जीवन-पद्धति भी चली आई। तैयार वस्तुओं के साथ-साथ उपभोग की नई इच्छाओं और आवश्यकताओं का आयात तक होने लगा। फैशन के साथ जीवन-दर्शन की घुसपैठ भी हमारे जीवन में हो चली। विकास और प्रगति का आयातित स्वप्न हमारी आँखों में समा गया और तब प्रारंभ हुआ आत्मछलना का एक घातक दौर। भारतीय मध्यवर्ग अपने अतीत का 'बोझ' उतारकर एकाएक आधुनिकता के राजमार्ग पर चल पड़ा। हमें परंपरा अवरोध-सी लगने लगी और आत्महनन भी अत्यंत सुखद जान पड़ा। दुनिया की किसी भी जाति ने अपने बीते हुए कल को इस कदर रद्द नहीं किया होगा, अपने अतीत को इस तरह नजरअंदाज नहीं किया होगा। इस नई सभ्यता और संस्कृति की आँधी में हम अपनी जड़ों को संभालकर रखना भूल गए। पश्चिम के कंधे तले भविष्य के आकाश तले खड़े होना चाहते हैं और हम अपनी लड़खड़ाहट को याद नहीं करना चाहते। लँगड़े समाज की यह आत्मविस्मृति अंततः उसे अंधविश्वासों की भूल-भूलैया में न जाने कहाँ ले जाकर छोड़ेगी, इसे भी हम नहीं समझ पाए।

आज हमें यह नहीं मालूम कि हम अपने अस्तित्त्व के कौन-से सांस्कृतिक धरातल को अपने पाँव तले अनुभव कर रहे हैं, कौन-सा आसमान है जिसकी प्राण वायु हमारे भीतर आ रही है। आज शुद्ध रूप से हम अपने वर्तमान को ही आधुनिकता मान रहे हैं। निर्मल वर्मा के मतानुसार हम अपनी परंपरा और आधुनिकता के हाशिए पर जी रहे हैं। न एक में हमारा घर है और न दूसरी में हमारी सुरक्षा। सच तो यह है कि हम आधुनिक हो रहे हैं, यह हमारा भ्रम है।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि हमारे रहन-सहन वेशभूषा, खान-पान, पहनाव, सामाजिक आचरण और लोकाचार की पारंपरिक मूल्य-पद्धति तथा जीवन शैली में अधिकाधिक पश्चिमीकरण हो रहा है, टी-शर्ट, जींस, हैमवर्गर, पिज़ा, माइकल जैक्सन, मैडोना आदि आधुनिकता के नए प्रतीक हैं।

प्रगति के अंतहीन-स्पर्धा में क्षुद्र स्वार्थों से भरा हुआ चालाक और हृदयहीन मध्यवर्गीय और उच्च मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी सामाजिकता के संकीर्ण घेरे के बाहर पसरी गरीबी को आँख खोलकर देखने से कतराता है क्योंकि वह पिछड़े हुए आधुनिक व्यक्तियों की दुनिया है।

ऐसी संवेदनहीनता आज के मध्यवर्गीय समाज की चारित्रिक पहचान बन चुकी है। जिसने अपने अतीत का भार उतार दिया हो, वह अपने वर्तमान से यूँ भी मुक्त हो चुका है। हम सब आत्मकेंद्रीत होते चले जा रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप वर्तमान का दु:ख और दायित्व कतई नहीं व्यापता। सामाजिक करुणा का कोई स्रोत हमारे आत्मलीन हृदय को विचलित नहीं कर सकता। आत्मकेंद्रीत और संवेदनहीन आज का व्यक्ति समसामयिकता की तात्कालिक संस्कृति को आधुनिकता समझ बैठा है जिसके परखने के लिए इसके पास देशी मापदण्ड नहीं, नितांत यूरो-अमरीकी प्रतिमान है। इससे उसकी आधुनिकता विभिन्न क्षेत्रों में फैशन के निरंतर बदलते रूपों मे व्यक्त होती है।

स्मरणीय है कि एक समय भारत में मध्य वर्ग ने सामाजिक परिवर्तन में नेतृत्वकारी भूमिका अदा की थी। उन्नीसवीं सदी का नवजागरण मध्यवर्ग के अविर्भाव के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। राष्ट्रीय जागरण का समूचा आंदोलन अपनी प्रकृति में मूलत: मध्यवर्गीय चरित्र का था। व्यापक जन-भागीदारी के बावजूद उसके नेतृत्व पर मध्य वर्ग ही काबिज रहा।

आजाद भारत में सर्वाधिक उपेक्षित और परास्त विचार स्वदेशीवाद ही रहा जिससे मध्यवर्ग उदासीन रहा। बाजार और शिक्षा की औपनिवेशिक अंतर्वस्तु ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भी मध्यवर्ग का मानस गढ़ने में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। आर्थिक-सामाजिक स्थिति में सुधार होने से मध्यवर्ग जल्दी ही बाजार के निरंतर विकसित हो रहे उपभोगतंत्र का नियमित सदस्य और उसका सक्षम सहभागी बन जाए।

पश्चिम की संस्कृति का सारतत्त्व शिक्षा-पद्धति में पहले से ही गुँथा हुआ था, जिसने भोगवाद के दर्शन और आचरण को प्रोत्साहित किया। विपुल उत्पादन और अधिकाधिक उपभोग यही उद्योगवाद का जीवन-दर्शन है जिनसे आधुनिक शिक्षा का सांस्कृतिक चरित्र गढ़ा गया है। शिक्षित मध्य वर्ग उत्पादक नहीं, उत्पादन का प्रबंधक वर्ग है, किंतु वस्तुत: वही समाज का मुख्य उपभोक्ता वर्ग भी है। शिक्षा उसे न सिर्फ उपभोग करने में सक्षम हैसियत प्रदान करती है, वरन् उसके भीतर उपभोग करने की लालसा भी उत्पन्न करती है। इस तरह वह उसे योग्य उपभोक्ता बना देती है। यह अनायास नहीं है कि आधुनिक भारत में शिक्षा, बाजार और मध्य वर्ग का विकास लगभग समानांतर तथा अन्योन्याश्रित रूप में

हुआ। सामूहिक उपभोग में निरंतर वृद्धि के कारण बाजार की शक्तियों को फलने-फूलने का पूरा मौका मिला जिसके परिणामस्वरूप मध्यवर्ग के जीवन और उसकी इच्छाओं को नियंत्रित-परिचालित करने लगी। इंसान एक नागरिक की जगह उपभोग करने वाले यंत्र में रूपांतरित हो गया। इस प्रकार हमारे देश में भी एक विराट उपभोग-तंत्र विकसित होता जा रहा है जिससे हमारी परंपरा और जीवन-शैली में निरंतर परिवर्तन हो रहा है। यह सांस्कृतिक परिवेश वस्तुतः हमारे मस्तिष्क के औपनिवेशीकरण के लिए सर्वाधिक अनुकूल सिद्ध हुआ है।

बदलती सामाजिक अवधारणाएँ

आज परिवार, घर और समाज की अवधारणाएँ न केवल बदल गई हैं, बल्कि पारिवारिक अवधारणाओं के विरुद्ध जा पड़ी हैं। संयुक्त परिवार जैसी संस्थाएँ लगभग नष्ट की जा चुकी हैं और तेजी के साथ नाभिकीय परिवारों का प्रसार हुआ है। घर अब कुटुंब के बसने की जगह नहीं, उपभोग का केंद्र बनता जा रहा है। वह प्रेम, सौहार्द, उत्साह, आनंद जैसे मानवीय तत्त्वों से कम पहचाना जा रहा है। बल्कि टी वी, कूलर, फ्रिज, पलंग आदि उपभोग्य वस्तुओं के होने से उसकी पहचान बनने लगी है, बुजुर्गों के बसने की जगह कोई उपभोग्य वस्तुएँ रख दी गयी हैं। व्यक्ति का पारिवारिक और निजी एकांत छिन गया है। समाज लगातार व्यक्तियों की सामूहिकता और सहभागिता से वंचित होता जा रहा है। पर्वों-अनुष्ठानों की जगह ड्राइंगरूम की निस्संगता ने ले ली है। लोककलाओं और हस्तशिल्प की बजाय मशीनों की बनी वस्तुएँ दैनिक उपभोग में काम आती हैं। यहाँ तक कि झाड़न-बुहारन भी इधर मशीनों से की जा रही है। लोक-अनुष्ठानिक गीतों की जगह अपसंस्कृति के माया-बाजार में पॉप, रॉक और डिस्को का शोर है। मनोरंजन उद्योग ने अश्लील मुद्राओं का घटाटोप रच डाला है।

हमारी समकालीन दुनिया विसंस्कृतिकरण के एक अपूर्व दौर से गुजर रही है। शिक्षा व्यक्ति के समाजीकरण और नैतिक-सांस्कृतिक अनुकूलन का माध्यम नहीं रह गयी है। चिकित्सा अब मानव-सेवा व्रत नहीं है। ये दोनों अर्थोपार्जन वस्तुएँ हैं। व्यक्ति के मानवीकरण के सारे उपादान कुत्सा के दायरे में सिमटकर अमानवीय होते जा रहे हैं। मनुष्य को मनुष्य बने रहने की सुविधा प्रदान करने वाला प्रत्येक उपक्रम अपनी अर्थवत्ता और प्रासंगिकता खो चुका है। समाज के कोने-कोने में अमानवीकरण का मंत्र-जाप हो रहा है। अपने अस्तित्व की जानी-पहचानी शर्त और जीने की अपरिहार्य भाषा हम भूलते जा रहे हैं। पिता पहले पापा में बदले और फिर डैड हो गए। इसी प्रकार माता माँ से मम्मी और फिर मॉम हो गई। जीजा आज जीजू में बदल गए। अपनी सांस्कृतिक पहचान हम

खोते जा रहे हैं। 'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी' हमें स्वयं मालूम नहीं है।

भाषा और संस्कृति :

भाषा और संस्कृति का अभिन्न संबंध होता है। भाषा संस्कृति की वाहिका होती है। भाषा संस्कृति की वाहिका ही नहीं होती, वह स्वयं संस्कृति भी होती है। भाषा की मृत्यु के साथ संस्कृति की भी मृत्यु हो जाती है।

आज हमारे देश में यदि सांस्कृतिक पतन हो रहा है तो उसका एक कारण अँग्रेजी भी है। इस संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस देश का सारा कामकाज-प्रशासन, शिक्षा, न्याय-वितरण, व्यापार उद्योग विदेशी भाषा में चलता है उसकी अपनी संस्कृति जिंदा नहीं रह सकती। आज संस्कृति के नाम पर सरकारें जनता के समक्ष जो परोस रही हैं, विभिन्न जनसंचार माध्यमों के जरिए, उसकी 90-95 प्रतिशत सामग्री अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों के कबाड़खाने से आ रही है। समाचार और मनोरंजन कार्यक्रम ही नहीं, शिक्षा, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में भी जो हमें वही मिल रहा है वह विदेशी शिक्षा संस्थानों की देन है और हम बड़े गर्व के साथ ग्रहण किए जा रहे हैं। लोहिया के समाजवाद के अन्य मुद्दों को जनता भले ही देर से समझे, लेकिन भाषा का मुद्दा तो इस समय राजनीतिक तूफान खड़ा कर सकता है, क्योंकि अँग्रेजी भाषा ने करोड़ों नौजवानों की जिंदगी को नरक बना दिया है, पर दुःखद स्थिति यह है कि इस पर पहल करनेवाला कोई नहीं दीखता।

मेरा तो विश्वास है कि भ्रष्टाचार की जड़ भी अँग्रेजी ही है, क्योंकि शासकों की भाषा को जनता नहीं समझती और न जनता की भाषा को शासक समझते हैं। इसी का नतीजा है कि शासक मनमानी करते हैं और जनता उन पर अंकुश नहीं लगा पाती। शासक और जनता के बीच संवादहीनता की जो दीवार खड़ी हो गई है उसके चलते सरकारी विभागों में हो रही लूट पर रोक नहीं लग पाती। इसीलिए लोहिया ने अँग्रेजी हटाने के पीछे चार कारणों को बताया था। पहला तो अँग्रेजी भारत की गरीबी की जड़ है। दूसरा, अँग्रेजी अशिक्षा की जड़ है। तीसरा, अँग्रेजी भ्रष्टाचार की जड़ है और चौथा, अँग्रेजी सांस्कृतिक पतन का मूल कारण है।

डॉ. हेतु भारद्वाज अपनी पुस्तक 'संस्कृति और साहित्य' में सांस्कृतिक संकट के दो कारण बताते हैं-एक बाजार का हमला और दूसरा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का हमला। यूँ इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के द्वारा परोसी जा रही नग्नता का आधार-कारण भी उसका 'मार्केट ऑरिएंटेड' होना ही है। डॉ॰ भारद्वाज भी मानते

हैं कि अँग्रेजी माध्यम के पब्लिक स्कूलों की शिक्षा से एक सांस्कृतिक प्रदूषण महसूस होता है जो हमें मानसिक रूप से गुलाम बनाए रखने में मदद करते हैं।

अँग्रेजी भाषा का प्रभुत्व

उपनिवेशवाद की कृपा से लादी गई अँग्रेजी भाषा के प्रभुत्व की चपेट में हमारी संस्कृति की जड़ें औपनिवेशिक दमन से कुचल दी गई हैं। कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली में नेहरू-स्मृति व्याख्यान देते हुए नोबल पुरस्कार विजेता अफ्रीकी लेखक बोल श्योगों ने अकारण ही नहीं कहा था कि लेखन कोई अनुष्ठान कर्म नहीं है। अत: हमें अपनी सहज अभिव्यक्ति की भाषा में ही लिखना चाहिए। ठीक इसी प्रकार अँग्रेजी के ही एक अन्य अफ्रीकी लेखक न्गुगी वा श्योंगो की तरह वह भी अनुभव करते हैं कि मातृभाषा में साहित्य रचना ही श्रेयस्कर है। श्योंगों ने तो अपना नया उपन्यास गिकूयू भाषा में लिखकर पश्चिम के सांस्कृतिक अधिनायकवाद का विरोध किया। वह मानते हैं कि अधिकनायकवाद ही जघन्यतम करतूत परमाणु बम नहीं, बल्कि सांस्कृतिक बम है, जो जनता की भाषा परिवेश, संघर्ष की विरासत, उसकी शक्ति यहाँ तक कि उसकी अस्मिता अपने होने पर, अपने नाम पर विश्वास को ही नष्ट कर देता है।

हमारे देश में भी असंख्य सांस्कृतिक बम बिखरे पड़े हुए हैं जिनके निरंतर विस्फोट का धुआँ हमारी आँखों में तैर रहा है। हमारी दृष्टि धुँधला गई है। हमारी आत्मा का सबसे जीवंत भाग लहूलुहान हो चुका है। ये बम सर्वत्र शिक्षा-संस्थान, दफ्तर, घर, सड़क, बाजार, पुस्तकालय, प्रयोगशाला सब जगह बिखरे पड़े हैं जिसका विध्वंस हमें दिखाई दे रहा है, पर प्रबुद्धजन मौन हैं। हमें अब सोचना होगा कि समाज के ज्ञात-अज्ञात कोणों में छिपे सांस्कृतिक बमों का शमन किस प्रकार हो सकेगा। इस वक्त हमारे पास न कोई विचारक है न मसीहा, पर आज जरूरत इस बात की है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर के विचार को जगाए रखकर ही इस संकट से उबर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना मसीहा स्वयं बनना होगा।

आक्रांताओं का अतीत

1935 में कार्ल मार्क्स ने एक अमेरिकी पुस्तक में भारत के बारे में अविस्मरणीय बात लिखी। उनके अनुसार भारत विजित होने से बच ही नहीं सकता था, क्योंकि उसका सारा इतिहास लगातार आक्रांताओं की विजय का ही वर्णन है। कार्ल मार्क्स के मतानुसार जिसे हम भारत का इतिहास कहते हैं वह

तो भारत पर आक्रमण करनेवालों की विजयगाथा है। वे भारत में आकर अपना साम्राज्य स्थापित करते थे, क्योंकि भारतीय समाज एक रुढ़िवादी और विरोध न करनेवाला समाज है। मार्क्स के ये विचार भारत में मार्क्स के अनुयायियों एवं समर्थकों ने अक्षरसः अपनाए। आज भी वे इसी विचारधारा से प्रभावित हैं। उन्हें भारत के इतिहास में, भारतीय संस्कृति में, भारतीय समाज-व्यवस्था में कुछ भी ऐसा नहीं लगता जिस पर गर्व किया जा सके।

प्रबुद्ध वर्ग के कुछ लोग आज भी यह कहते पाए जाते हैं कि प्राचीन भारत के इतिहास की पुस्तकों में परिवर्तन की क्या आवश्यकता है। दरअसल, हमने भारत की युवा पीढ़ी को उसके अपने नायकों के बारे में सही जानकारी देने में अपनी हेठी समझी। यदि औरंगजेब शिवाजी को पहाड़ी चूहा कहता था तो हमने भी उसमें सुधार करने की आवश्यकता नहीं समझी। इसी प्रकार गुरु तेग बहादुर के संबंध में एक पाठ्य पुस्तक में लिखा गया था "गुरु तेग बहादुर को फाँसी उनके परिवार के कुछ लोगों की साजिश का नतीजा थी, जिसमें और लोग भी शामिल हो गए थे, वे लोग गुरु के उत्तराधिकार के विरुद्ध थे। (मध्यकालीन भारत, कक्षा 11, पृष्ठ 328) ठीक इसी तरह जाटों के संबंध में लिखा है "उन्होंने दिल्ली दरबार में चल रहे षड्यंत्रों में भी भाग लिया।" (आधुनिक भारत, कक्षा 8, पृष्ठ 22) क्या कोई भी देश इस प्रकार के तथ्यों को मात्र इसीलिए स्वीकार कर लेगा कि उसके पहले के शासक अपने स्वार्थ के कारण इस प्रकार का प्रचार करते थे। आज पूरी दुनिया यह मानती है कि प्रत्येक देश की शिक्षा-व्यवस्था उस देश की संस्कृति से जुड़ी होनी चाहिए और साथ ही वह प्रगति के लिए प्रतिबद्ध भी होना चाहिए। इसका व्यावहारिक रूप देना प्रत्येक राष्ट्र का कर्त्तव्य है।

संस्कृति इतिहास का एक उत्पाद है और साथ ही इतिहास को व्यक्त करने का माध्यम भी है। लेकिन संस्कृति उस इतिहास को यूँ ही व्यक्त नहीं करती। वह प्रकृति और पोषण जगत के चित्रों और बिंबों के निर्माण के जरिए उसे व्यक्त करती है। आधुनिकता की अँधी दौड़ में आज तेजी से संस्कारों की उपेक्षा हो रही है जिसके चलते मानव मूल्यों का ह्रास हो रहा है और यह सामाजिकता के लिए घातक है, क्योंकि संस्कारों के प्रति उदासीनता से ही अराजकता का जन्म होता है। आज के आपाधापी के दौर में संस्कारवान परिवारों की कमी होती जा रही है जिससे संबंधों की मर्यादा भी खतरे में पड़ती नजर आ रही है। माता-पिता, भाई-बहन, पिता-पुत्र के संबंधों में आज निरंतर कटुता आने लगी है। संस्कारहीन समाज की स्थिति जंगलराज जैसी होती है। हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति हमें यही सिखाती है कि हमारा जीवन तभी धन्य होगा जब हम अधिक से अधिक दूसरों के काम आ सकें।

सभ्यता और विकास के नाम पर आज कुटिलता, स्वार्थ, मुकाबला और आक्रामकता ही हमें आदर्श की शिक्षा देते हैं। अगर हम एक नन्हें शिशु की सरलता और गरिमा अपने में बनाए रखें तो स्वर्ग दूर कहाँ है। माँ की गोद में सोया बच्चा इक्कीसवीं सदी की मानवता का उद्धार कर सकता है। वह मसीहा है। माँ यशोदा है कि मरियम माँ है। बच्चा कोई भी हो, ईश्वर की संतान है। मसीहा के आने का संदेश स्पष्ट है। वह मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा या चर्च में नहीं, शायद आपकी गोद में सोया है। उस पावन, निर्मल, शांत चेतना को देखना भर है।

भारतीय संस्कृति पाश्चात्य तामसिक संस्कृति के विपरीत अग्निधर्मी है। मानव-सभ्यता के विकास में सूर्याराधक संस्कृति का ही श्रेय रहा है। युगीन अँधेरों को नए उजाले देने की ही नहीं, बल्कि प्रकाश की सारी संस्कृति ही भव-भाव-भावना पर आघात है,किंतु भारतीय संस्कृति और परंपराओं में विश्वास करनेवाले यह पूछते घूम रहे हैं कि आज हम कहाँ जा रहे हैं और वर्तमान संस्कृति किस तरह का प्रकाश दे रही है? इसकी वजह न सिर्फ हत्या, हवस और मस्ती सरीखी फिल्में बल्कि पॉप, डिस्को सरीखे फूहड़ संगीत समेत अन्य सांस्कृतिक आयोजन नैतिकता के परंपरागत मापदंडों का खुलेआम उल्लंघन करते पाए जा रहे हैं। हद तो यह कि मंच पर सरे आम यौन भावनाएँ भड़काने वाले हावभाव प्रदर्शित किए जा रहे है और वहाँ उपस्थित लड़कियाँ मारे खुशी के चीख रही हैं। निश्चित रूप से भारतीय समाज आज जिस तरफ जा रहा है उसमें हमारा पतन अब कोई दूर नहीं है।

सिर्फ यही नहीं, बल्कि आज के समाचार-पत्र पत्नियों की अदला-बदली, सम्मानित कॉलेजों की छात्राओं द्वारा पैसों के लालच में वेश्यावृति अपनाने और कॉलेज परिसर में सेक्स और विवाहेत्तर संबंधों से जुड़ी खबरों से पटे पड़े रहते हैं। ऐसे में आश्चर्य नहीं होता जब कोई भारतीय संस्कृति के पतन पर चर्चा करते दिखाई पड़ जाता है। इस प्रकार से चिंतित भारतीयों को यह भी मानना है कि अतिपाश्चात्यवाद से भारत के सदियों पुराने पारिवारिक ढाँचे और उसकी पवित्रता पर भी विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। इंटरनेट पत्रिकाएँ, समाचार पत्र, दूरदर्शन कार्यक्रम, स्तंभकार और विभिन्न संगठन इस बाबत लगातार अपनी चिंताएँ जाहिर कर रहे हैं।

दरअसल, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद प्रत्येक दशक में अमेरिकी, ब्रितानी, जर्मन, जापानी कलाकार भारत आकर अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करते आए हैं। कभी वे अपनी तरफ से आए तो कभी आईसीसीआर यानी इंडियन काउंसिल ऑफ कल्चरल रिलेशंस के आमंत्रण पर। उल्लेख्य है कि पॉप-सम्राट जॉर्ज हैरिसन तक पंडित रविशंकर की संगत में यहाँ प्रस्तुत हो चुके हैं। रविशंकर, अली अकबर खान, भीमसेन जोशी, पंडित जसराज, हरिप्रसाद चौरसिया, संजुकता पणिग्रही,

सुब्बालक्ष्मी, बाला मुरली, जाकिर हुसैन सरीखे हमारे अपने कलाकारों तक को विदेशों में सम्मान मिल चुका है। सच तो यह है कि पाश्चात्य सभ्यता का विरोध करनेवाले यह जानते हैं कि भौतिकता की आँधी में बह चुके पश्चिम में इसी कारण पारिवारिक मूल्यों-मर्यादाओं का ह्रास हुआ है और भारत में बढ़ती भौतिकता से युवा पीढ़ी में मानवीय संवेदनाएँ कम हो रही हैं।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीयों को पूरी दुनिया में अपनी भावनाओं के लिए जाना जाता है। गहरे सांस्कृतिक मूल्यों से उनके जीवन में एक स्थायित्व देखने में आता है। मूल्य और सौंदर्यबोध भारतीय पारिवारिक जीवन की आत्मा माने जाते हैं। यही कारण है कि तमाम झंझावातों के बावजूद भारतीय संस्कृति और मूल्य अक्षुण्ण बने हुए हैं और इन दिनों खुलेपन के नाम पर जो अश्लीलता परोसी जा रही है वह भारतीयता के मूल सिद्धांतों के खिलाफ है। मुझे ऐसा लगता है कि सबसे बड़ा खतरा तो उन्हें अपने मन से है, क्योंकि हमारे यहाँ सफलता का पैमाना पैसा माना जा रहा है और उससे जुड़े ऐश-ओ आराम का भोग करना। ऐसे में लोग अपने को बड़ा दिखाने के लिए मूल विरासत से इतर होने का दिखावा करने लगते हैं। हालांकि उनके कहीं भीतर भारतीयता का भाव बना रहता है। यही वजह है कि उनके भीतर संशय और भ्रम बना रहता है। आगे चलकर इन्हें ही लगने लगता है कि भारतीय संस्कृति खतरे में है। जबकि असलियत यह है कि भारतीय संस्कृति की जड़ें इतनी गहरी हैं कि फूहड़-मस्ती भरी फिल्में तथा आधुनिकता से लैस मनोरंजन-कार्यक्रम उन्हें हिला भी नहीं सकती है।

विविधता की महत्ता:

हमारे देश में सामाजिक-सांस्कृतिक विविधताओं को संविधान द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया है। इसके तहत अनुसूचित जाति, जनजाति और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई है। संयुक्त राष्ट्र-विकास-कार्यक्रम की भारत में प्रतिनिधि मैक्साइन ओल्सन के अनुसार 'रोजगार और शिक्षा क्षेत्र में आरक्षण की व्यवस्था से इन वर्गों को सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर दखल मिली है।' इस रिपोर्ट में इस बात की भी चर्चा की गई है कि जनसंख्या में व्याप्त विविधता को दर्शाने के लिए हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन और बौद्ध धर्म से जुड़े सामुदायिक अवसरों पर सरकार के द्वारा विधिवत् अवकाश घोषित किया गया है। राष्ट्रीय भाषाएँ भी सूचीबद्ध हैं जो त्रिस्तरीय भाषा के फार्मूले पर अमल में लाई जाती हैं। यानी मातृभाषा के साथ हिंदी और अँग्रेजी के रूप में दो आधिकारिक भाषाएँ उपयोग में लाई जाती हैं।

हिंदी और उर्दू एक ही भाषा है जिन्हें दो अलग-अलग वर्णों में लिखा जाता है। जब इसे देवनागरी में लिखा जाता है तो यह हिंदी हो जाती है और जब इसे फारसी-आरबी-प्रेरित वर्णों में लिखी जाती है तो वह उर्दू हो जाती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार सिख और हिंदू लेखकों ने उर्दू साहित्य के विकास में समग्र रूप से योगदान दिया है उसी प्रकार मुस्लिम लेखकों का भी हिंदी साहित्य की समृद्धि में काफी अवदान रहा है। रतन नाथ सरशार और उनके फसाना-ए-आजाद, कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद की कहानियों, कृष्णचंदर और राजिंदर सिंह बेदी समेत अन्य हिंदू और सिख लेखकों को स्मरण कीजिए जो उर्दू में लिखा करते थे। इसी तर्ज पर हिंदी के मुसलमान लेखकों पर जब आप गौर करेंगे तो कबीर और अमीर खुसरों के काम को भला कौन हिंदी-प्रेमी भुला सकता है। भारतीय साहित्य में बारामासा के प्राक्कथन में चॉलेट बौदेविले उल्लेख करते हैं कि 'मुस्लिम लेखक भी बारामासा के कम दीवाने नहीं हुआ करते थे।' इस क्रम में आधुनिक दौर में हिंदी लेखकों में राही मासूम रजा का नाम न लेना भी एक गलती ही होगी। इसके बावजूद हिंदू की भाषा हिंदी है और मुसलमान की भाषा उर्दू, यह बात लोगों के दिमाग में कैसे बैठ गई, यह समझ से परे है।

संयुक्त राष्ट्र-विकास-कार्यक्रम की रिपोर्ट से एक सवाल उपजता है जिसका उत्तर शीघ्र खोजे जाने की आवश्यकता है। जन्म लेनेवाला कोई भी व्यक्ति क्या सोच समझकर किसी विशेष धर्म, संप्रदाय, जाति, देश या घर में जन्म लेता है? अगर ऐसा नहीं है तो फिर वह जिस देश में जन्म लेता है वह सर्वश्रेष्ठ क्यों हो जाता है? उसका धर्म अन्य की तुलना में क्यों श्रेष्ठ हो जाता है? स्पष्ट है कि देशभक्ति, धार्मिक आस्था, परिवारवाद और अन्य निष्ठाओं के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है। खासकर संयुक्त-राष्ट्र-विकास कार्यक्रम की हालिया रिपोर्ट के बाद तो इस पर विचार करना और भी जरूरी हो जाता है।

सुप्रसिद्ध विचारक डॉ० सत्येन्द्र चतुर्वेदी का मानना है कि 'खुला बाजारवाद' आज व्यक्ति समाज पर बुरी तरह हावी है। भौतिकवाद के अतिरेक से जीवन दृष्टि में आमूल-चूल परिवर्तन आ गया है। पहले सौंदर्य के साथ संस्कृति, संस्कार, शील, आचार-विचार भी किसी आदर्श सभ्योदक व्यक्तित्व के आभूषण माने जाते थे, संयोजक तत्त्व थे। परिवार, परिवेश चारित्रिक गुणों को सबमें विशेष प्रश्रय, प्रोत्साहन मिलता था। घर में माता-पिता बच्चों को संस्कारवान, शीलवान, स्वस्थ, सद्गुणी बनाने पर विशेष जोर देते थे। उनका

विविधता की विशेषताएँ
-रक्षत पुरी, दैनिक जागरण दि० 21 जुलाई 2004

अभीष्ट था कि सद्शिक्षा, सुसंस्कृत वाणी, सद्व्यवहार आदि विशेषताओं के संबल से वे समाज में विशिष्ट स्थान बनाएँ, विपुल उपलब्धियाँ अर्जित कर अपनी कीर्ति फैलाएँ और उनका नाम भी उज्ज्वल करें। अभिभावकों का संतान के संबंध में परंपरा से चला आया यही जीवन दर्शन था, उत्कृष्ट कामना थी। सामाजिक स्वीकृति भी इसे ही मिली और संतान अपने लिए वरेण्य, हितकारी समझ अपने अभिभावकों के इस दृष्टिकोण को सहर्ष ग्रहण करती थी। वह व्यक्ति के आंतरिक, अंतर्निहित गुणों को प्रधानता, प्राथमिकता देनेवाली संस्कृति थी। तन की सुंदरता की अपेक्षा वह मन की सुंदरता का विशेष मूल्यांकन करती थी, वरीयता उसे ही प्रदान करती थी। मान्यता प्रचलित थी-

'मन मलीन तन सुंदर कैसे, विष रस भरा कनक घट जैसे।'

पर देखते-देखते व्यक्तित्व के विकास और जीवन में सफलता के लिए निष्ठा, संयम, शालीनता आदि सच्चरित्र के मूल्यों में विश्वास करनेवाला युग चूक गया। शील, सदाचार, मर्यादावादी हमारे उदात्त जीवनादर्शों को, बहुत अंशों में पाश्चात्य प्रभाव से आगत, उपभोक्तावादी संस्कृति लील गई। पैसे की लालसा ने सब संस्कारों, परंपराओं को चूर-चूर कर दिया। कैसे भी वांछित-अवांछित, वैध-अवैध तरीके से पैसा कमाना सबका मंजिले-मकसूद बन गया। पैसे के लिए व्यक्ति आज के उपभोक्तावादी युग में कुछ भी करने को उद्यत है उसे किसी तरह की द्वंद्व दुविधा नहीं। इसी संस्कृति और विकृत दृष्टि ने देहसंस्कृति को बेतहाशा बढ़ावा दिया है। पर यक्ष प्रश्न यह है कि उस उपभोक्तावादजन्य अमानुषिक और परंपरागत जीवन-मूल्यों को ढोने वाली देह संस्कृति की उद्दाम झंडा को थामने के लिए आज के मोहविमूढ़ प्रमादग्रस्त समाज में से कब, कौन से कैसे धीरोदात्त व्यक्तित्व बढ़कर आगे आएँगे, वर्तमान अशोभनीय विषम स्थिति से दिग्भ्रांत, विपथगामी समाज को उबारेंगे, तारेंगे।

●

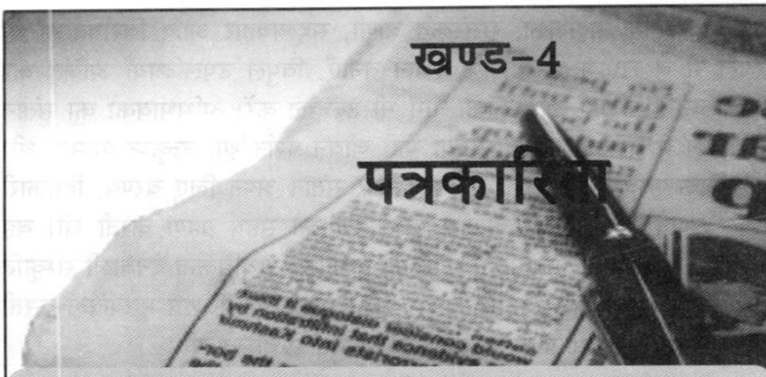

खण्ड-4

पत्रकारिता

'प्रेस के लिए आजादी वैसी ही है जैसे मानव जाति के लिए आक्सीजन। प्रेस के अस्तित्व के लिए यह अनिवार्य शर्त है। स्वतंत्र प्रेस के बिना लोकतंत्र की बात करना विरोधाभास है। लोकतंत्र में प्रेस ऐच्छिक या अतिरिक्त नहीं है।'

एन. ए. पालकीवाला

पत्र-पत्रिका की परिभाषा

प्रामाणिक हिंदी शब्दकोष में पत्र का अर्थ समाचार पत्र और पत्रिका का अर्थ है-नियत समय पर प्रकाशित होनेवाला कोई सामयिक पत्र या पुस्तक, प्रेस एवं पुस्तक पंजीकरण अधिनियम (संशोधित) की प्रथम धारा में ही सार्वजनिक समाचार अथवा सार्वजनिक समाचार पर टिप्पणीयुक्त नियम समय निकलने वाला मुद्रित प्रकाशन समाचार-पत्र कहा गया है और पत्रिकाओं को उसी में सम्मिलित किया गया है। पत्र-पत्रिका से संबंधित विषय पर अध्ययनार्थ विषय-विधा या प्रक्रिया पठन-पाठन को पत्रकारिता के नाम से अभिहित किया गया है।

आज से लगभग दो सौ बत्तीस वर्ष पूर्व सन् 1772 में लंदन से कोलकाता व्यापार करने आए जेम्स अगस्टस हिक्की भारत में पत्रकारिता के जनक कहे जाते हैं, जिन्होंने अपनी कलम की धार से बेबाक पत्रकारिता की राह दिखाई। सत्ता के मद में बैराये शासकों के विरूद्ध लेखनी की तीखी तीर चलाने पर हिक्की को कई परेशानियों का झंझावात भी झेलना पड़ा था। इंग्लैंड से भारत पहुँचे हिक्की की दास्तान निर्भीक व बेबाक पत्रकारिता एवं एक साहसी पत्रकार के स्वाभिमान की अविस्मरणीय मिसाल है। तब पत्रकारिता में निष्पक्ष रूप से अधिकतर पत्रकार जनसेवा की भावना से कार्य करते थे। हिक्की को अपनी

निष्पक्ष और निर्भीक पत्रकारिता के चलते कई बार जेल की हवा भी खानी पड़ी थी, फिर भी सत्ता और जुल्म के विरूद्ध अपनी आवाज बुलंद करना उन्होंने हरगिज नहीं बंद किया। वे कहा करते थे कि प्रख्यात कवि होमर की तरह कविताएँ लिखकर कोलकाता की सड़कों पर गाऊँगा, गुनगुनाऊँगा। कविताओं की पुस्तिकाओं को खुद घूम-घूमकर बेचूँगा पर जुल्म के आगे कभी सिर नहीं झुकाऊँगा।

ला टोब विश्वविद्यालय, मेलबोन, आस्ट्रेलिया में राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर रोबिन जेफ्री ने अँग्रेजी में प्रिंट मीडिया पर भारतीय जन-संचार-संस्थान द्वारा प्रकाशित अपनी पुस्तक में कहा है कि भारत में अलगाववादी आंदोलन और विघटनकारी शक्तियों ने वहीं सिर उठाया जहाँ-जहाँ प्रिंट मीडिया कम था। असम, कश्मीर और पंजाब इसका उदाहरण है।

रोबिन का कहना है कि मीडिया का कोई भी मालिक जनता को कोने में ढकेल नहीं सकता, नहीं कठपुतली की तरह आम जनता को मनमर्जी से नचा सकता है।

मार्टिन वाकर ने पत्रकारिता को किसी राष्ट्र की दिनचर्या का इतिहास माना है। इस नजरिए से देखें तो किसी राष्ट्र की राजनीति, सामाजिक सरोकार, कृषि, विज्ञान, कला, संस्कृति, शिक्षा, उद्योग के घटनाचक्र को जीवंत वृतांत देनेवाले समकालीन अखबार सचमुच इतिहास बन जाते हैं उस कालखंड के लिए। इन अखबारों के पन्नों में दर्ज वृतांत की पंक्तियों से गुजरना इतिहास के उस काल खंड के सामने रू-ब-रू खड़े हो जाने की अनुमति देता है।

ज्ञात इतिहास के अनुसार भारत में पत्रकारिता का आरंभ 29 जनवरी, 1780 को जेम्स आगस्टस हिक्की के 'बंगाल गजट' जिसे 'हिक्कीज गजट' कहा जाता है, के प्रकाशन के साथ हुआ। 224 वर्ष पुराने इस पत्र की प्राप्ति सप्रे संग्रहालय, भोपाल में सुरक्षित है। 1826 में निकला हिंदी का पहला पत्र युगल किशोर शुक्ल का 'उदन्त मार्तण्ड' हिंदी का प्रथम दैनिक, 1854 का 'समाचार सुध-वर्षण' की प्रति उपलब्ध है।

भास्कर के संपादक महेश श्रीवास्तव के शब्दों में कभी-कभी मनुष्य अपने व्यक्तित्व की पहचान तलाशता है। किसी भी पत्रकार को इस संग्रहालय में आकर अपने पुरातन से जुड़ने और उन संस्कारों की धारा पहचानने का अवसर मिलता है जो अपने समय की पूर्णता प्राप्त करती है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में पत्रकारिता की भूमिका

संचार माध्यमों की भूमिका भारत जैसे देश में इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि यहाँ छपे हुए शब्दों के प्रति लोगों में पारंपरिक रूप से प्रबल आस्था रहती है। सांप्रदायिक उन्माद, तनाव, दंगों तथा प्राकृतिक आपदाओं की स्थिति में मीडिया की भूमिका और महत्त्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि लोगों का यह विश्वास है कि अखबारों में जो छपता है वह सच छपता है। भाषा, वाणी और अभिव्यक्ति द्वारा मानव चेतना को जगानेवाले साहित्य के सभी तत्त्व पत्रकारिता के उपादान रहे हैं। आजादी के शुरूआती दौर में पत्रकारिता के इतिहास पर नजर डालें तो ऐसा प्रतीत होता है कि पत्रकारिता का उद्देश्य साहित्य, संस्कृति, कला आदि का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार कर जन-जन तक पहुँचाना रहा है। आजादी के पूर्व या आसपास प्रकाशित होनवाली पत्रिकाएँ - उदंत मार्तंड, कल्याण, लोकहित जैसी पत्रिकाएँ जिन्होंने देखी हैं, वे कहेंगे कि लोक साहित्य, चरित्र-निर्माण, देश-प्रेम और धर्म-आध्यात्मिक विषयों के साथ मनोरंजन और साहित्यिक-कलात्मक आग्रह ही तब पत्रकारिता का मकसद रहा है।

आजादी के बाद लगभग कई दशक तक निकलनेवाले - ज्ञानोध्य, नवनीत धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, नया-समाज, कादम्बिनी आदि मासिक-साप्ताहिक पत्रिकाओं में भी साहित्य, समाज, संस्कृति, धर्मदर्शन आदि विषयों की प्रमुखता रही है। ऐसी सभी पत्रिकाओं का संपादन भी जाने-माने साहित्यकार, समाज सेवी, विचारक और निष्ठावान चिंतक मनीषा ही करते रहे हैं। यही नहीं बाल हिंदी पत्रकारिता का इतिहास स्वतंत्रता संग्राम से भी जुड़ा रहा है। देश की आजादी रूपी यज्ञ कुंड में पत्रकारों ने अपने प्राणों की आहुति देकर देश को आजाद करने में मदद की।

संचार माध्यमों की आज दु:खद स्थिति यह है कि मीडिया के कुछ स्वामी संपादक और उससे जुड़े पत्रकार स्वयं धार्मिक पूर्वाग्रह, सांप्रदायिक पक्षपात और राजनीति दलों के हित साधने की भावना से भरे हुए हैं। इसमें हिंदी, अँग्रेजी, उर्दू तथा अन्य कई भाषाओं के अखबारवाले शामिल हैं। मीडिया और राजनीति के इस गठजोड़ के खराब नजारे पिछले मार्च 2002 में गुजरात में हुए सांप्रदायिक दंगे में देखने को मिले हैं जब गुजराती के कई अखबारों ने ऐसी खबरें छापीं जिनसे कम होने के बदले दंगा और बढ़ता गया।

हालांकि अखबारों पर काबू रखने के लिए प्रेस-परिषद के दिशा-निर्देश एवं आचार-संहिता हैं, किंतु वे केवल नैतिक हैं। जबतक इसे लागू करने के प्रभावी उपाय सरकार नहीं करती तबतक इनका क्या फायदा? अधिकार के नाम

पर सांप्रदायिक तथा समाज विरोधी ताकतें मीडिया का दुरुपयोग करती हैं। हमारे मीडिया को जिम्मेदार, निष्पक्ष और प्रोफेशनल बनाने की चौतरफा कोशिशें करनी होंगी।

यह बात ठीक है कि सच को तह से बाहर निकाल लाना पत्रकारों का दायित्व है, किंतु इसके साथ ही समाज व देश के प्रति इनकी जिम्मेदारी भी है। अपनी सीमाओं और एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ में स्थानीय अखबार खबरों को अतिरंजित कर पेश करते हैं। इन्हीं खबरों के कारण भावनाएँ भड़कती हैं। इसलिए पत्रकारिता एक बड़ी जिम्मेदारी का पेशा है। आपकी रिपोर्टिंग का गलत असर समाज पर न पड़े, इसके लिए एक विशिष्ट आचार और आत्मानुशासन की जरूरत पड़ती है। भारतीय प्रेस परिषद ने पत्रकारिता के लिए आचार-संहिता बनाया है । यहाँ कोई इसका पालन नहीं करता कारण कि यहाँ जिस व्यक्ति को कोई अन्य नौकरी नहीं सूझती वह पत्रकारिता के पेशे से जुड़ जाता है। ऐसी स्थिति जवाबदेह पत्रकारिता को हतोत्साहित करती है।

भारतीय पत्रकारिता में एक और तथ्य का अभाव है। यहाँ मुद्दे तो जोर-शोर से उठाए जाते हैं पर उन्हें तर्कसंगत परिणति तक अमूमन नहीं ले जाया जाता है। उदाहरण के तौर पर तहलका-कांड महीनों तक सुर्खियों में रहा किंतु आज तक उनका कोई अता-पता नहीं। भारतीय मीडिया मुद्दे का फॉलो-अप नहीं करती जिसके कारण बहुत से गंभीर मुद्दे नेपथ्य में चले जाते हैं। भारतीय मीडिया स्वतंत्र तो है, लेकिन उतना जिम्मेदार नहीं जितना होना चाहिए।

भारतीय मीडिया की स्थिति यह है कि वह आज विशुद्ध व्यावसयिक हो चुकी है। तमाम अखबार विभिन्न व्यवसायिक संस्थानों की मिल्कियत है। जाहिर है, अखबार की नीति भी संस्थान के व्यावसायिक हितों को ध्यान में रखकर तैयार की जाती होंगी। ऐसी हालात में अधिक से अधिक सरकारी गैर सरकारी विज्ञापन बटोरना और प्रसार संख्या बढ़ाना उनकी प्राथमिकता बन गयी है और समाज को नयी दिशा देना दूसरे दर्जे का काम बन गया है। आज भारतीय मीडिया खोजी पत्रकारिता के मोर्चे पर कमजोर साबित होता है। देश, समाज और व्यवस्था के प्रति पत्रकारिता की जिम्मेदारी अहम है। इसलिए पत्रकारिता की धार जितनी पैनी होनी चाहिए उतना ही उसके भीतर जवाबदेही का अहसास भी होना जरूरी है। भारतीय पत्रकारिता में आज खोजी पत्रकारिता का गहरा अभाव है। विश्लेषणात्मक तत्त्व भी कम रहे हैं। अधिकांश खबरें व लेखन 'सतही' रहते हैं। सरकारी विज्ञप्तियों पर कवरेज आधारित रहते हैं। मीडिया को चाहिए कि वह सरकारी नीतियों व कार्यों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि अपनाए और संकीर्ण हितों से ऊपर उठकर राष्ट्रीय हितों के लिए अपनी भूमिका निभाए।

'सेक्स' से लेकर 'अध्यात्म' तक का खबरों में 'कामर्शियलाइजेशन' की प्रवृत्ति आज के अखबारों में मौजूद हैं। मेरा ख्याल है कि 'पार्टीजन' और 'खबर को वस्तु' बनाने की यह प्रक्रिया पिछले डेढ़-दो दशक में बहुत ज्यादा बढ़ी है। सत्य, तथ्य, पारदर्शिता और सूचना पाने तथा उसे प्रसारित करना पत्रकारिता की विशेषता है। हाँ, सत्य बताने के नाम पर सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ को अनदेखा नहीं किया जा सकता, खास तौर पर तब जबकि हमारे भारतीय समाज में सहिष्णुता का स्तर जहाँ घटता जा रहा है वहीं असहिष्णुता बढ़ती जा रही हो। इसलिए जरूरी है कि सत्य बताने वाले 'अमूर्तता' के शिकार न हो। सत्य को समाज और राजनीति की सापेक्षता में देखा जाना चाहिए। जहाँ तक इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का सवाल है, उसकी यह मजबूरी है कि झूठ दिखा ही नहीं सकता, उसे तो सच ही दिखाना पड़ेगा, क्योंकि उसके कैमरे ने जिस घटनाओं को कैद किया वह सच ही होगी। उदाहरण के तौर पर गुजरात के गोधरा स्टेशन के पास साबरमती एक्सप्रेस पर हुई घटनाएँ और उसकी प्रतिहिंसा में घटी वारदातों से देश के इतिहास में पहली बार दंगा दूरदर्शन की आँख से पूरी दुनिया के सामने बेपर्दा हुआ। टेलीविजन से आनेवाले समय में भी समाज में मंथन की गति और बढ़ेगी। समाज अपने आप सुधरेगा। हिंसा की वीभत्स और क्रूरतम तस्वीरों को देखकर शायद समाज में संयम आए। विकृति उजागर होने पर ही जिम्मेदारी आएगी। मीडिया का काम समाज की त्रुटियों और विसंगतियों को लोगों के सामने पेश करना है।

जयललिता के राज में आपातकालीन स्थिति की घोषणा के बिना तानाशाही और आतंक का राज कायम था, इस दमन का नवीनतम शिकार देश का प्रतिष्ठित और बड़ा अँग्रेजी अखबार 'द हिंदू' हुआ। ऐसे समय में जब लोगों का कार्यपालिका और विधायिका पर से विश्वास उठता जा रहा है तथा न्यायपालिका पर भी हमले जारी हैं तब मीडिया की भूमिका उसकी विश्वसनीयता पर निर्भर है अन्यथा अनेक सामाजिक त्रासदियाँ जन्म ले सकती हैं। इसलिए पत्र-पत्रिकाओं को उपभोक्ता-उत्पाद की तरह प्रस्तुत करनेवाली मानसिकता से बचने का प्रयास करना होगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में संवाद की कोई गुँजाइश नहीं होती। आज ऐसा देखा जा रहा है कि पत्र-पत्रिकाएँ समाज व देश के मूल मुद्दों पर बहस से कतराने लगे हैं और वे मात्र सूचना-परक होते जा रहे हैं। इसकी वजह यह है कि उनमें विश्लेषण-शक्ति की कमी है, दूर दृष्टि का अभाव है। इसी के चलते हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की तुलना में अँग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं की विश्वसनीयता अधिक प्रतीत होती है। आज जरूरत इस बात की है कि पाठकों को कुछ नया देने की क्षमता हो पत्र-पत्रिकाओं में। नयी पीढ़ी से यह उम्मीद की जानी चाहिए वह कुछ नया और अच्छा करके दिखायँगी, क्योंकि नौजवानों

से काफी अपेक्षाएँ हैं। वे ही पत्रकारिता के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों का सामना कर सकते हैं।

पिछले डेढ़ दो दशक में देश के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रष्टाचार के मामले प्रकाश में आए हैं मीडिया ने अपनी पैनी दृष्टि से उन भ्रष्टाचारियों की नकाब उतारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जितने भी चर्चित घोटाले हुए हैं इनको बेनकाब करने का श्रेय मीडिया को ही जाता है। इसी प्रकार यदि चुनाव के दौरान हमारी संपूर्ण मीडिया सतर्कता और निष्पक्षता से कार्य करे तो भ्रष्टाचार के दानव पर नकेल लगायी जा सकती है, क्योंकि जब चारों घोर भ्रष्टाचार का बोलबाला हो, कानूनों की धज्जियाँ उड़ रही हों, माफिया और बाहुबली तांडव कर रहे हों, अपहरण ने अच्छा खासा एक उद्योग का रूप ले लिया हो, सरकारी संरक्षण में अपराध और रंगदारी पराकाष्ठा पर हो, देश की एकता को तोड़नेवाली भाषा का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा हो, ऐसी निराशा और विषम परिस्थिति में मीडिया और चुनाव आयोग में ही एक आशा की किरण दिखाई देती है। देश के प्रति जागरूक होकर यहाँ के संचार-माध्यम यदि अपने दायित्व एवं कर्त्तव्य को निभाने का प्रयास करे तो हमें स्वाभाविक ही उनपर गर्व की अनुभूति होगी।

देश की संसदीय पद्धति और लोकतांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने में संचार-माध्यमों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आजादी के पूर्व मीडिया ने बड़ी निर्भीकता के साथ अँग्रेजी हुकूमत के खिलाफ मोर्चा संभालकर स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, आज जब लोकतंत्र पर खतरा मंडरा रहा है वह जनमानस को जगाने की जवाबदेही निभाने का प्रयास करे, यही उसकी गरिमा के अनुरूप होगा अन्यथा तमिलनाडु की अम्मा जी जैसी तानाशाह विशेषाधिकार के नाम पर जनतांत्रिक ढाँचे को खत्म करती रहेगी और तब भी मीडिया की आजादी भी खतरे में पड़ जाएगी, क्योंकि पिछले दिनों तमिलनाडु-विधानसभा की विशेषाधिकार-समिति ने विशेषाधिकार का ऐसा उपयोग किया जिससे 'द हिंदू' के पाँच पत्रकारों को पंद्रह दिन के कारावास की सजा दे दी गयी, क्योंकि उसने भी 'द हिंदू' के संपादकीय को प्रकाशित करने की जुर्रत की थी। यह तो कहिए कि उच्चतम न्यायालय ने ऐन वक्त पर समिति के फैसले पर रोक लगाकर लोकतंत्र के चौथे स्तंभ पर किए गए हमले में हस्तक्षेप किया। जयललिता की इस संवेदनहीनता और विशेषाधिकार के मामले ने पत्रकारिता के समक्ष एक सवाल खड़ा कर दिया कि पत्रकार विधानसभाओं को रिपोर्ट करें या न करे? क्योंकि कोई भी बदला चुकाने के लिए किसी भी शब्द को पकड़ सकता है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि विशेषाधिकार समिति ने 'द हिंदू' के संपादकीय को लेकर जिसे विशेषाधिकार हनन का मुद्दा बना डाला और प्रेस की आजादी को ही चुनौती दे डाली, दरअसल वह क्या था, इसे देखें। संपादकीय का शीर्षक था 'बढ़ती असहिष्णुता'। आगे कहा गया कि जयललिता का प्रशासन हर रोज असहिष्णुता के नए सोपान चढ़ रहा है। जनता के विभिन्न तबकों और विपक्षियों एवं मीडिया के खिलाफ राज्य-सत्ता का फूहड़ उपयोग यह बताता है कि प्रशासन में जनतंत्र के प्रति हिकारत का भाव है। विडंबना यही है कि प्रशासन असुरक्षा-ग्रंथि से काम ले रहा है मानो क्षणिक जीवन जी रहा है। इसकी अपने विरोधियों से टकराव की भूख अंततः जनतांत्रिक अधिकारों को कम करेगी और राज्य के कल्याण को कम करेगी।.....सच कहा जाए तो जयललिता के भाषण को लेकर संपादकीय में छपी टिप्पणियों के जिन शब्दों को एक वक्तव्य में विधानसभाध्यक्ष ने मुद्दा बनाया है, वे हैं--'काटनेवाले कड़े शब्द', विपक्ष पर अनियंत्रित हमले, गुस्से में लाल भभूका, दण्डात्मक, उग्र भाषण। ये तमाम शब्द जयललिता के भाषणों के विविध अंशों के संदर्भ में कहे गए थे। इन शब्दों को विधानसभा की शान के विपरीत और विशेषाधिकार का उल्लंघन माना गया। सच तो यह है कि सदस्य की रक्षा के लिए विशेषाधिकार का उपयोग जनतंत्र को कमजोर कर सकता है। इससे स्वतंत्र रिपोर्ट की प्रक्रिया भी बाधित होगी। आज हमारा जनतंत्र और पत्रकारिता प्रौढ़ हो चुकी हैं। उसमें सदस्यों की ऐसी तुनकमियाजी शोभा नहीं देती जबकि जनप्रतिनिधियों के आचरण दिन-ब-दिन आपत्तिजनक नजर आ रहे हैं। आज की पारदर्शी सूचना 'समाज में आखिर आप क्या-क्या छिपाएँगे और क्या-क्या रोकेंगे?' एक अहम् प्रश्न बन गया है। इसलिए समय का तकाजा है कि जनप्रतिनिधि जहाँ अपनी सहिष्णुता का परिचय दें वहीं ऐसे विरोधहीन वक्त में पत्रकार बिरादरी अपनी पुरजोर एकता प्रदर्शन करें, क्योंकि सत्ता से पत्रकारिता का यह मुकाबला अभी खत्म नहीं हुआ है।

कहावत है कि नेता मौत का सदमा बर्दाश्त कर सकता है, लेकिन सच की एक कड़वी घूट कदापि नहीं। आखिर क्यों सत्ता के मद में आते ही राजनेताओं को प्रेस की आजादी खटकने लगती है जबकि पत्रकारिता की स्वतंत्रता है कि समाज में जो कुछ हो रहा है, उसको सच्चाई के साथ प्रस्तुत करे। फिर यह हाय-तौबा क्यों ? मुख्यमंत्री जयललिता के इशारे पर तमिलनाडु विधानसभा की विशेषाधिकार समिति द्वारा 'द हिंदू' एवं 'मुरासोली' समाचार पत्रों पर किया गया हमला न केवल नादिरशाह फरमान का द्योतक माना जाएगा, बल्कि प्रेस की आजादी पर भी हमला करार दिया जाएगा।

लघु पत्र-पत्रिकाओं की वर्तमान स्थिति

जहाँ तक लघु पत्र-पत्रिकाओं का सवाल है यह किसी जुनूनी और हठी व्यक्ति के कारण ही ऐसी पत्रिकाएँ निकल पाती हैं, क्योंकि समाज में जो कुछ घटनाएँ घट रही हैं उसे देखकर उसके मन में अकुलाहट होती है और वह कुछ कहना चाहता है, इसके साथ ही वह अपने सरीखे लोगों से भी यह अपेक्षा करता है कि वे भी इसे चिंता का विषय बनाएँ और अपने भावों को व्यक्त करें। इस ख्याल से वह व्यक्ति अभिव्यक्ति के नए आयाम खोलना चाहता है। लघु पत्र-पत्रिकाएँ उसी के परिणाम हैं जिसके माध्यम से वह हठी व्यक्ति उस घुटन से बाहर निकलने का प्रयास करता है।

इस संदर्भ में दु:खद स्थिति यह है कि अपने हठ और जुनून के कारण पत्रिका तो वह निकाल लेता है लेकिन जब तक उसका जुनून और हठ बना रहता है तबतक पत्रिका निकलते रहती है। जिस दिन उसकी आर्थिक स्थिति चरमराने लगती है तो पत्रिका भी बंद हो जाती है ऐसी अव्यवसायिक लघु पत्रिकाओं को दो-चार मित्रों एवं शुभेच्छुओं का संयुक्त प्रयास या सहयोग भी उसे बहुत दिनों तक खीच ले जाने मे समर्थ नहीं हो पाता है और यदि वह पत्रिका निकालनेवाला व्यक्ति अपने निजी संबंधों के बल पर कुछ विज्ञापन प्राप्त कर लेता है तो धीरे-धीरे वह भी बंद हो जाता है। फिर सरकारी विज्ञापनों में इतनी औपचारिकाएँ पूरी करनी होती है कि वह व्यक्ति चाहकर भी अपने सीमित साधन की वजह से उसे पूरा करने में अपने को असमर्थ पाता है। जहाँ तक पत्रिकाओं के वितरण का सवाल है उसकी संख्या एक-दो हजार से अधिक नहीं हो पाती है और वह भी उस व्यक्ति के द्वारा बनाए गए सदस्यों के बीच ही, क्योंकि बुक-स्टॉल तथा एजेंटो के माध्यम से उसका वितरण घाटे का सौदा इस माने में होता है कि इस व्यवस्था को बनाने का खर्च ऐसी पत्रिकाएँ नहीं उठा सकतीं।

संपुष्ट आचार-संहिता के साथ प्रभावी कदम

सब मिलाकर कहा जाय तो हमारे देश की पत्र-पत्रिकाएँ एक सशक्त राष्ट्र-प्रहरी की भूमिका निभाती नजर नहीं आती हैं। यदि पत्र-पत्रिकाओं की दशा में सुधार लाना है तो एक संपुष्ट आचार-संहिता बनानी होगी तथा साथ ही निम्न बातों की ओर प्रभावी कदम उठाने होंगे-

1. देश की एकता, अखंडता पर कोई आँच न आ पाए, समाज खंडित न हो जाय, पत्र-पत्रिकाओं को ऐसी सामग्रियाँ प्रकाशित करनी चाहिए यानी हत्या, बलात्कार, लूट, डकैती, अपहरण तथा सांप्रदायिक

दंगों की खबरों को महत्त्व नहीं देना चाहिए। समाज को तोड़नेवाले समाचारों से बचने का प्रयास करना चाहिए।

2. पत्र-पत्रिकाओं में सद्समाचार, ज्ञान-विज्ञान, चरित्रोत्थान, बाल विकास, महिला-जगत तथा समाज के उन्नयन के समाचारों को प्रमुखता देनी चाहिए। खेल-कूद जैसे कालमों को भी महत्त्व देना होगा।
3. वैसे समाचारों को ही छापना चाहिए जिसका दुष्प्रभाव समाज व राष्ट्र पर न पड़े।
4. पत्र-पत्रिकाओं की कीमत उतनी ही हो जितने मूल्य का बेचने पर रद्दी से पैसा प्राप्त हो सके।
5. सभी छोटे तथा मंझोले समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं की कम-से-कम तीन प्रतियाँ सरकार खरीदकर स्कूल, कॉलेज, पुस्तकालयों एवं विश्वविद्यालयों में नि:शुल्क वितरित करने की व्यवस्था करे।
6. घोषणा-पत्र की प्राप्ति के पश्चात् प्रकाशकों के कोटे के कागज मुहैया कराए जायँ। संभव हो तो नियंत्रित कागज जनपद-स्तर पर भी उपलब्ध किए जायँ।
7. सरकार के सूचना-विभाग से पत्र-पत्रिकाओं को कम से कम उतनी राशि के विज्ञापन प्रदान किए जाएँ जितने से उसे जिंदा रखा जा सके।
8. अनुपयोगी पत्र-पत्रिकाओं को जो मानक के हिसाब से नहीं प्रकाशित हो पाते या भ्रामक सामग्री छापते हैं, तत्काल प्रभाव से बंद करा दिए जायँ।
9. कुकुरमुत्तों की तरह उत्पन्न वैसे संवाददाताओं, पत्रकारों पर अंकुश लगाए जायँ, जो अधिकारियों को परेशान करते हैं और नेताओं, कर्मचारियों के ब्लैक मेलिंग में लिप्त हैं।
10. पत्र-पत्रिकाएँ राष्ट्रहित को सर्वोपरि मानकर ही प्रकाशित की जायँ।

पत्रकारिता और साहित्य

पत्रकारिता और साहित्य वस्तुत: एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों ही मानवीय जीवन की निरंतर आवश्यकताओं में से हैं। दोनों का प्रमुख ध्येय 'सत्य की खोज' और 'सत्य की प्रस्थापना' है। गणेश शंकर विद्यार्थी के अनुसार पत्रकारिता का एकमात्र ध्येय लोकसेवा था, तो लोकमान्य तिलक के अनुसार जनजागरण का प्रबल हथियार था। इसी प्रकार बापू का कहना था कि भाषा

स्वातंत्र्य, सभा-सम्मेलन की स्वतंत्रता और मुद्रण-स्वातंत्र्य इन तीनों की पुनः स्थापना लगभग पूर्ण स्वराज्य के समान है। नेहरू जी की मान्यता थी कि "पत्रकारिता राष्ट्रीयता का चिंतन तथा न्याय विरुद्ध शक्तियों को अवरुद्ध करने की ओर नए राष्ट्र के निर्माण में सबसे सशक्त माध्यम है।"

पत्रकारिता को साहित्य का अभिन्न अंग इसलिए माना गया है क्योंकि साहित्य भी समय समय पर उपरोक्त महापुरुषों की मान्यताओं की कसौटी पर कसा जाता रहा है। सच कहा जाय तो एक दृष्टि से पत्रकारिता साहित्य की प्रतिनिधि है। कहानी, कविता, लेख, जीवनी साहित्य, यात्रावृतांत, संस्मरण, भेंटवार्ता, रेखाचित्र, रिपोर्टाज आदि जहाँ एक ओर साहित्य की सामग्रियाँ हैं, वहीं दूसरी ओर पत्रकारिता के साथ भी ये विधाएँ जुड़ती हैं। इस प्रकार पत्रकार और साहित्यकार दोनों ही सर्जनकार हैं। दु:खद स्थिति यह है कि पत्रकारिता विधा भी साहित्य से हटकर राजनीति और व्यवसाय का एक अस्त्र बनकर रह गयी है। साहित्यिक पत्रिकाओं की आम शिकायत है कि कंप्यूटर में हिंदी के लिये पर्याप्त सुविधाएँ नहीं हैं। आज की पत्रकारिता तमाम सरोकारों, सिद्धांतों और विचारधाराओं को किनारे रखकर जिस अँधे कुएँ में उतर आई है, वहाँ यह सूझ ही नहीं रहा कि व्यवसाय और व्यसन में फर्क कैसे करें?

अच्छी पत्रकारिता का एक मानदंड यह है कि आप जो कर रहे हैं, उसके पीछे भावना कैसी है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि नेशनल मीडिया ने दंगे भड़काने के लिए गुजरात के दंगों की विभीषिका को उजागर किया था। दर्पण तो चेहरे के दाग दिखाएगा ही। यदि हम दंगों के लिए दर्पण को दोषी ठहराने लगें तो इसे नासमझी ही कहा जाना चाहिए। हाँ, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि समाज को मीडिया से विवेक की अपेक्षा है। मीडिया का उच्छृंखल व्यवहार किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता, क्षम्य नहीं होता, लेकिन अपने दायित्वों को पहचानते हुए यदि मीडिया समाज के गलत आचरण को उजागर करता है तो इसे सही संदर्भों में स्वीकारा जाना चाहिए। सच का उजागर होना कभी गलत नहीं होता। खासकर पाशविक करतूतों को उजागर करना तो किसी भी हाल में गलत नहीं होता। हाँ, यदि मंतव्य गलत हो तो इस कार्रवाई का औचित्य संशय के घेरे में आ सकता है। आपको याद होगा 14वीं लोकसभा चुनाव के दौरान उत्तर प्रदेश में गुजरात के दंगों से संबंधित एक ऐसा चित्र दिखाया गया था, जो मुसलमानों की भावनाओं को भड़का सकता था। यह वह चित्र था, जिसमें एक दंगा पीड़ित हाथ जोड़कर प्राणों की भीख माँग रहा था। उसकी आँखों की दहशत दंगाग्रस्त गुजरात की पूरी कहानी कह रही थी। इस चित्र के प्रसारण के औचित्य पर सवाल उठा था, क्योंकि इन चित्रों-दृश्यों

ने गुजरात में सांप्रदायिकता की भावना को भड़काया ही था। सवाल उठानेवाले का मानना था कि मीडिया में प्रसारित दंगों के दृश्य यदि सामने न आते तो गुजरात में सांप्रदायिकता की आग उतनी न फैलती। यह सोच आधारहीन नहीं है। किंतु यह जिज्ञासा भी तो स्वाभाविक है कि यदि इन दृश्यों ने आग फैलायी तो वह गुजरात की सीमाओं पर ही कैसे रुक गयी?

5 मार्च, 1962 को जवाहर लाल नेहरू ने जन संचार-माध्यमों पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था-'जन-माध्यम बहुत उपयोगी होते हैं, पर इनमें खतरे का तत्त्व भी रहता है और वह यह है कि इनको निजी उद्देश्य की खातिर विकृत भी किया जा सकता है। समृद्ध समूह (भीतरी) या समृद्ध राष्ट्र (बाहरी) जनमाध्यमों की सहायता से देश और विश्व को अपनी स्वयं को वस्तु-दृष्टि से पाट भी सकते हैं।'

नि:संदेह संचार और उसका प्रतिनिधित्व करने वाली बहुआयामी मीडिया आज शक्तिशाली परिघटना के रूप ले चुकी हैं। राष्ट्र-निर्माण से जुड़ी विभिन्न विकास-प्रक्रियाओं पर इनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, लेकिन प्रभावों का चरित्र कितना जनोन्मुखी, समाजोन्मुखी और कितना स्वदेशी है, यह विचारणीय विषय है। अँग्रेजी व हिंदी के सुप्रसिद्ध समाज चिंतक संचार विज्ञानी डॉ० पी० सी० जोशी ने अपनी अँग्रेजी पुस्तक 'कम्युनिकेशन एंड नेशनल डेवलपमेंट' में पूरी शिद्दत के साथ पुस्तक की प्रस्तावना में कहते हैं कि 'संचार के व्यापक अर्थों में आज संचार 'सत्ता-संरचना, आर्थिक और सामाजिक असमानता' से प्रभावित है। कई ऐसी शक्तियाँ भी इसे प्रभावित कर रही हैं जो कि संचार जगत से बाहर की है। इन्हें समझने के लिए सृजनात्मक व व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है।' डॉ० जोशी का मत है कि समकालीन दौर में संचार चिंतन की निर्भरता को भारत की संचार विरासत के वांछित दोहन से ही दूर किया जा सकता है, क्योंकि यह विरासत, वृहतर एशियाई संचार परंपराओं का एक हिस्सा है।

दरअसल, पश्चिमीकृत भारतीय कुलीन वर्ग ने भारत की संचार-परंपराओं को ठीक से समझा नहीं और पश्चिमी संचार-मॉडलों को अपना लिया जिसका दृष्परिणाम यह हुआ कि संचार-माध्यम जन-जन तक नहीं पहुँच सके और कुलीन वर्गीय बन गए। इस संदर्भ में डॉ० पी० सी० जोशी का कहना है कि आज हमें भारत और एशिया को सहभागी संचार-प्रणालियों की जरुरत है जो कि तिकड़मी संचार-प्रणालियों के खिलाफ हों।' आज स्थिति यह है कि निर्धन

'संचार और राष्ट्रीय विकास' डॉ पी० सी० जोशी- अनामिका, नई दिल्ली

ग्रामीण समाज संचार के गति विज्ञान से नितांत अपरिचित है, कारण कि गरीबों के समक्ष आज सबसे बड़ी चुनौती है आजीविका-अर्जन की। आज के संचार-माध्यम आजीविका अर्जन में कोई उपयोगी भूमिका नहीं निभा सके हैं। संचार क्रांति का असली उपयोग मात्र मनोरंजन के लिए किया गया है। यही कारण है कि मनोरंजन-उद्योग भारत में अभूतपूर्व ढंग से फल-फूल रहा है जिसमें विज्ञापन-उद्योग भी शामिल है। इस प्रक्रिया का दुष्परिणाम यह रहा कि 'विकास एजेंसियाँ संचार माध्यमों का अपेक्षित इस्तेमाल करने में विफल रहीं। इसलिए डॉ० जोशी पुन: निर्देश देते हैं, 'हमें आधुनिकीकरण की उन तमाम अवधारणाओं को अस्वीकार कर देना चाहिए जो कि सत्यम, शिवम और सुंदरम् को सम्मिश्रित करने की हमारी युगों 'पुरानी परंपरा को आगे नहीं बढ़ाती हैं। हमें ऐसी आधुनिकता से सचेत रहना चाहिए जिनका निर्माण इन बुनियादों पर नहीं हुआ है और जो कि आधुनिक मूल्यों व सांस्कृतिक रूपों की उत्कृष्टता को परंपरा की उत्कृष्टता के साथ एकीकृत नहीं करती है। हमें यह सुनिश्चित करना चाहिए कि संचार हमारी प्रतिगामिता को बर्बरता की आधुनिक शक्लों में तब्दील न करें।'

इस परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि हमारे पूर्वजों ने संचार का उपयोग जीवन-शैली को समृद्ध, सुरुचिपूर्ण और सुंदर व अर्थपूर्ण बनाने के लिए किया था जिसका आधुनिक संचार-माध्यमों ने सही इस्तेमाल नहीं किया। यही वजह है कि व्यक्ति का जीवन भी कुरूप बनते जा रहा है। अतएव जरूरत इस बात की है कि संचार-तकनीक व माध्यमों का आयात व प्रयोग अत्यधिक सावधानी के साथ किया जाए, क्योंकि पश्चिमी अमेरिकी जगत संचार-क्रांति, सूचना-क्रांति और मनोरंजन-चैनलों के माध्यम से बहुलताबाद को समाप्त कर विश्व को एकलतावादी बनाने की कोशिश में जुटा हुआ है।

●

खण्ड-5 धर्म-कर्म

"हमारी एकता की भावना और हमारे लक्ष्यों के प्रति हमारी लगन को सबसे ज्यादा खतरा उन विचारों से है, जो जनता को विभाजित करना चाहते हैं। भारतीय संविधान ने सभी नागरिकों को संपूर्ण बराबरी का हक दिया है। अब चिंता का विषय यह है कि धार्मिक स्वरूप को धार्मिक भावनाओं पर लादने की कोशिश की जा रही है। हम अपनी विरासत के लिए धर्म की जगह सांस्कृतिक संदर्भ क्यों नहीं विकसित कर सकते, जो हम सभी को भारतीय बनाने के लिए कार्य करेगा।"

-राष्ट्रपति डॉ॰ एपीजे अब्दुल कलाम

धम का कार्य :

धर्म का कार्य है-व्यक्ति के विवेक को जगाना। विवेक के जागरण से व्यक्ति को उचित-अनुचित एवं हित-अहित का बोध हो जाता है। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का सम्यक्रूपेण निर्वाह करता है, कहा जाता है कि वह धर्म का आचरण कर रहा है। वास्तव में अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही सबसे बड़ा धर्म है। यशस्वी विचारक डॉ॰ नगेन्द्र के निम्नस्थ मत को हमें ध्यान में रखना चाहिए।

"कर्त्तव्यशीलता चरित्र का सबसे बड़ा गौरव है।" धर्म हमें उदार बनने तथा आत्मविस्तार करने का पाठ पढ़ाता है। जहाँ सांसारिक सुख हमें अँधकार, पाप,

अधोगति एवं असंतोष की ओर ले जाते हैं, वहीं यह धर्म का मार्ग हमें प्रकाश, पुण्य, सर्वोच्च गति एवं संतोष की प्राप्ति करा देता है।

धर्म शब्द संस्कृत की 'धृत्र' धातु में 'मन्' प्रत्यय के योग से बना है, जिसका अर्थ है-धारण-शक्ति। अर्थात धर्म का शाब्दिक अर्थ हुआ धारण करना। धर्म शब्द की सच्ची भावना का द्योतन कणाद् मुनि के इस सूत्र से होता है- "यनोऽभ्यूदय नि:श्रेयस सिद्धि: स धर्म:।" अर्थात जिससे मानव का, इस लोक का उत्कर्ष एवं परलोक का कल्याण होता है, वह धर्म है। भारतीय संस्कृति में यह मान्यता शुरू से ही लक्षित होती है कि मानव को सर्वश्रेष्ठ मानकर सभी क्रियाएँ एवं सांस्कृतिक अनुष्ठान उसी के निमित्त संपादित किये जाएँ। संस्कृत की निम्नस्थ ऋचा में इसी मान्यता की पुष्टि होती है:

"सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद दु:खभागभवेत्।।"

दूसरे के दु:ख को समझना तथा दूसरों को पीड़ा न पहुँचाना यह भाव भारतीय संस्कृति के मूल में प्रारंभ से ही विद्यमान रहा है। शास्त्रकार ने कहा है कि-

"परोकार: पुण्याय, पापाय परपीड़नम्।"

धर्म जीवन की श्रेष्ठतम विभूतियों और मनीषियों की अपनी-अपनी मीमांसाओं पर आधारित होता है और उनका अनुसरण तथा अनुशीलन करनेवालों के लिए आदर्श आचरण संनिहित करते हैं। परंतु ऐसा लगता है कि असंख्य पथ विग्रह के पनपने के कारण हमारे धर्म के मूल तत्त्वों का अवसान हो रहा है और आचरण संहिताओं का द्वंद्व उनसे वितृष्णा उत्पन्न करने लगा है। पंथों और संतानुशरण संस्थानों की बाढ़ और उसके निरंतर प्रसार के बावजूद धर्म, संस्कृति का लोप एक विश्वव्यापी यथार्थ बनने लगा है। जिस पंथ से मिलो वही कहता है-"मेरे साथ आओ। मेरे मतवाले पंथ के साथ जुड़ जाओ।" यह मताग्रह अब विष की नाईं फैलता जा रहा है। व्यक्ति की मति को यह एक विद्रूप चुनौती है। उसे मूल से दूर ले जाने का प्रयास है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने धर्म को सारी वस्तुओं का ध्रुव सत्य बताते हुए भी उसे अंतत: प्रकृति को सत्य ही बताया। महात्मा गाँधी ने धर्म को एक ही लक्ष्य की ओर जाने का अपने लिए आत्मसात किया हुआ मार्ग बताया। अतएव धर्म का आधार हमारी मौलिक मति का शुद्धिकरण है, न कि मतानुकरण। ध र्म की इस उदार स्वतंत्रता से ही वह शाश्वत बन सकता है। उसका रूढ़ीकरण तो उसका ही भरण और सीमाकरण करता है।

वैचारिक संकट का दौर

आज हमारे सामने वैचारिक संकट अपने असली रूप में सारे नकाब झाड़कर खड़ा है। वैचारिक संकट का सबसे दरिद्र और दयनीय प्रदर्शन धर्म, संप्रदाय, संस्कृति और साहित्य के ताबेदारों द्वारा किया जा रहा है। आज मौलिक चिंतन का अभाव महसूस किया जा रहा है। अधिकांश धर्मों में नया चिंतन बंद होता जा रहा है। कारण कि कभी आँख खोलने की शिक्षा देते धर्मों के अनुयायियों को उनके मठाधीशों ने आँख बंद करने की शिक्षा देनी शुरु कर दी और उसके तंत्र ने अपने जन-विरोधी कुकर्मों को छिपाने के लिए उन्हें भी अपना हथियार बनाना प्रारंभ कर दिया। आज स्थिति यह है कि धार्मिक स्थलों के पास करोड़ों की संपत्ति हो गयी है और उसके अधिकांश हिस्से का जनहित में कोई उपयोग नहीं हो पा रहा है। ऐसे में अब वह समय आ गया है कि विभिन्न ध ार्मिक स्थलों/न्यासों की संपत्ति का जनहित में उपयोग करने का प्रयास किया जाए ताकि धर्मों की आत्मा को प्राय: जड़ और स्वार्थी नेतृत्व से बचाया जा सके, क्योंकि धर्म मूलत: मानस चेतना का एक उदात्त प्रकटीकरण है। स्वामी विवेकानंद ने तो इस बात को इस रूप में कहा था ''हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल, यही नहीं हमारे जातीय जीवन की भी मूल भित्ति है।'' सच कहा जाए तो धर्म की हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन पर इतनी गहरी पकड़ है कि इसके जरिए सत्कर्म की प्रेरणा भी जगाई जा सकती है। इस दृष्टिकोण से तमाम भ्रमों, भ्रांतियों और वाह्याडंबरों से परे धर्म के मर्म को पहचानने और उसे आत्मसात करने का प्रयास किया जाना चाहिए। किंतु इसके ठीक विपरीत हमारे चारों तरफ धर्म के नाम पर कर्मकांड, पाखंड, कट्टरता और विद्वेष का सागर लहराता दीख रहा है। आज अधिकांश धार्मिक आख्यानों, परंपराओं और उपदेशों-प्रवचनों का आम जन की वर्तमान समस्याओं से कोई लेना-देना नहीं, बल्कि सच तो यह है कि वर्तमान की तमाम समस्याओं से वे मुँह फेरना सिखा रहे है। तमाम धर्मों के मठाधीश सत्ता स्वार्थों के साथ खड़े दिखते हैं भले ही सुबह शाम की आम आदमी की चिंताएँ लगातार विकराल और अधिक विकराल होती जा रही हों।

धर्म-कर्म का अभिप्राय

भारत में धर्म का जो वर्तमान स्वरूप सामने आ रहा है वह कई अर्थों में जन समस्याओं से कटा ही नहीं, बल्कि आम आदमी के सुरक्षित हित में बिना कुछ खास किए धर्म के नाम पर उसका ध्यान न केवल जन समस्याओं से हटाने का काम रही है, बल्कि विभिन्न धर्मों के अनुयायिओं के बीच दूरियाँ बढ़ाकर

वोटों की खेती करने में लगी है। मनोरंजन चैनलों की तर्ज पर चौबीस घंटे जारी रहनेवाले धार्मिक चैनल भी दिन-रात शोर में डूबे धार्मिक स्थलों व समारोहों की भरमार के अलावे और कुछ नहीं दीखते। इनका सबसे नकारात्मक पहलू यह है कि आपको सिर्फ आँख बंद कर एक मृग मरीचिका में आनंदित होने की छूट है, सवाल उठाने की नहीं। वस्तुतः अधिसंख्य को आस्था के नाम पर पीढ़ियों से केवल आँख बंद करना सिखाया जाता है। आज के वैज्ञानिक युग में भी धार्मिक विश्वासों को चुनौती देनेवाले चैनलों, पत्र-पत्रिकाओं की कल्पना नहीं की जा सकती। और तो और जो मीडिया धार्मिक विश्वास से संबंधित खबरों को देता है उसमें भी चुनौती देनेवाली दो-चार खबरों को स्टेट फारवर्ड प्रकाशित करने की हिम्मत नहीं जुटा पाती है। क्या यह सच्चाई नहीं कि जो लोकतंत्र मीडिया के विचारों के खुले आदान-प्रदान की छूट देता है, वह एक सीमा तक ही है। वह यह तर्क देता है कि विरोध या खंडन से विभिन्न धर्मावलंबियों की आस्था को ठेस पहुँचती है। वे यह भूल जाते हैं कि आस्था तो वैज्ञानिक चिंतन रखनेवालों की भी है। क्या धार्मिक विश्वासों के अनवरत प्रचार से वैज्ञानिक सत्य के प्रति आस्था रखनेवालों को ठेस नहीं पहुँचती? आज जब इतिहास और विज्ञान की नई-नई अवधारणाएँ विकसित हो रही हैं ऐसे में धर्मों की सैकड़ों साल पुरानी मान्यताओं को बिना तर्क की कसौटी पर कसे सिर्फ आस्था के नाम पर इक्कीसवीं सदी में भी ढोते जाना किसी तरह तर्कसंगत नहीं है।

आज देश की जनता सिर्फ विकास और खुशहाली चाहती है और धर्म के राजनीतिक दुरुपयोग को स्वीकार नहीं करती। यही कारण है कि जनता धर्म के नाम पर उग्रवाद को कभी पंसद नहीं करती, चाहे गुजरात का दंगा हो या अयोध्या का, धार्मिक संकीर्णता का राजनीतिक लाभ उठाने का प्रयास आखिरकार कहाँ परवान चढ़ पा रहा है। इसका एक कारण यह भी दीखता है कि हिंदू एवं इस्लाम धर्म का केंद्र होने की वजह से मानसिक ऊर्जा समाप्त होती गयी। दुनिया भर से आनेवाले तीर्थ-यात्रियों ने यहाँ के लोगों को जहाँ एक ओर लूट-खसोट की संस्कृति दी, वहीं उन्हें फसाए रखने की चालबाजियों ने ढोंग और धार्मिक आडंबरों को यहाँ प्रमुख उद्योग बना दिया। ज्ञान-विकास के नाम पर सिर्फ पुराणों की व्याख्याएँ तोता-रटंत, उनके पुनर्कथन और चमत्कारी अवतार-कथाएँ ही यहाँ का बौद्धिक विमर्श बनी। लूट-खसोट, हत्या, बलात्कार, अपहरण और दान-दक्षिणा की कमाई को स्थायित्व देने के लिए आध्यात्मिक उद्योग का निर्माण करनेवाला पूरा एक उच्च वर्ग, परिश्रम और उत्पादन कर्म से घृणा करता रहा यानी शोषण पर फूलता-फलता रहा। मौलिक चिंतन की अनुपस्थिति और बड़े सामाजिक आंदोलन के न होने के पीछे यही धर्म-प्रभावित संस्कृति है, जो भाग्य, भगवान, अवतारों में लौ लगाने और भौतिकता से घृणा करना सिखाती है – 'जो जहाँ है,

वही उसका धर्म है, उसी का पालन श्रेयस्कर है और संतोष धन पाने पर सब धन धूरि-समान होता है, का उपदेश ही एक विशाल वर्ग की बौद्धिक खुराक रही है। श्रमहीन कमाई, विकृतियों, अपराधों और अमानुषिता को जन्म देती है, इसे हम आज लॉटरी, शेयर बाजार और काले धन पर पनपते मध्य और उच्च वर्ग की दो पीढ़ियों में ही अपनी आँखों से देख रहे हैं। फिर उसकी कल्पना कीजिए जो सैंकड़ो पीढ़ियों से इसी लूट पर फूलते-फलते रहे हैं। लोग जागरूक न हो जाएँ इसलिए सारी विद्या और सारे ज्ञान का इन्होंने तिरस्कार ही कर दिया है। गैर बराबरी को इन्होंने न सिर्फ अपना विश्वास बनाया है, बल्कि सभी वर्गों और वर्णो में इसके संस्कार भर दिए हैं। फलस्वरूप सामाजिक गतिशीलता को कुचल दिया गया है। इसी वजह से हिंदुस्तान की जनता को जान-बूझकर अशिक्षित रखा गया है। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए उसका शोषण भी किया जाता है। उससे कभी मस्जिद तोड़वाया जाता है तो कभी मंदिर को अपमानित करवाया जाता है। सबसे आश्चर्यवाली बात यह है कि आज का संचार माध्यम भी सिंघल, तोगड़िया जैसे लोगां की ही बातों का जोर-शोर से प्रचार-प्रसार कर रहा है। इसी की वजह से प्रगतिशील आंदोलन की मजबूत बुनियाद के बावजूद सांप्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रीयता, शोषण, दमन और अत्याचार से आज का भारतीय समाज आक्रांत है। प्रगतिशील आंदोलन देश की आम जनता में सांप्रदायिक सद्‌भाव बढ़ाने और उसमें धर्मनिरपेक्षता की भावना विकसित करने में विफल रहा है जिसकी वजह से आज सर्वत्र सांप्रदायिकता और जातिवाद का बोलबाला है। यही कारण है कि बच्चा पैदा होने के बाद जैसे-जैसे वह बड़ा होता है उसकी धरती और उसका आसमान छोटा होता जाता है और धर्मांधता की आग में झुलस जाता है। क्या कोई बता पायगा कि गंगा का जल जब कोई भरता है तो इससे वह 'वजू' करेगा या शिवमंदिर में जाकर शिव पर चढ़ाएगा? इसी प्रकार किसान जब अपने खेतों में फसल उपजाता है तो वह यह नहीं जानता कि उसे हिंदू खाएँगे या मुसलमान, सिख खाएँगे या इसाई। इसलिए आज लोग धर्म के लिए नहीं, दिन-रात दो रोटी के लिए बेहाल हैं। रामलला का मंदिर तो पीढ़ियों से हर एक के दिल में है ही।

बापू से बढ़कर एक धार्मिक व्यक्ति इस देश में कौन हुआ ? वह तो अपने अस्तित्व के अंतरत्तम से भी हिंदू थे, फिर भी धर्म के उनके दृष्टिकोण का किसी परंपरा, किसी धर्म-कांड या किसी प्रचलित धारणा से कोई संबंध नहीं था। गाँधी जी कहते थे--"सब धर्म सच्चे हैं, सब धर्मों में थोड़ी बहुत गलतियाँ भी हैं, सब धर्म मुझको इतने प्यारे हैं जितना खुद मेरा हिंदू धर्म। दूसरे धर्मों के लिए भी मेरी उतनी ही श्रद्धा है जितनी खुद अपने धर्म के लिए है।" बापू ने

कहा है कि उनकी आकांक्षा यह है कि 'हर आँख से एक आँसू पोंछ लिया जाय।' किंतु आँसू पोंछने की बजाय आज के धार्मिक बाबा औसत अर्द्धशिक्षित व्यक्ति को बहकाने की कला में पारंगत हैं। ये बाबा लोग अपने आपको भगवान कहते हैं और दूसरों से गुरु महाराज या महाराज साहब कहलवाते हैं। भारत के मंदिरों और मस्जिदों में करोड़ों की अथाह परिसंपत्तियों का भंडार लिए बैठे ये महाराज और मुल्ला लोग हैं।

अँधविश्वास और पाखंड का वर्चस्व

धर्म, भाषा, जाति, संस्कृति आदि से लोगों को एक सूत्र में बाँधने और आपस में मेलमिलाप रखने में मदद तब मिलती थी जब आवागमन के साधन नहीं या कम थे। आज आदमी सुबह का जलपान भारत में करता है, दोपहर का खाना लंदन में खाता है और रात फ्रांस में बिताता है। आज जमाना 'वसुधैव कुटुंबकम' का है, किंतु धर्म, भाषा, संस्कृति आदि का मोह से चरितार्थ करने में बाधक सिद्ध हो रहा है और इन सभी चीजों की जड़ को मजबूत कर रहा है अँधविश्वास। जैसे-जैसे आदमी शिक्षित हो रहा है, विज्ञान के बदौलत हम प्रगति कर रहे हैं वैसे-वैसे लोगों का स्वार्थ भी बढ़ता जा रहा है, जिसका नतीजा सामने है। आतंकवाद, हिंसक प्रवृत्तियों का बढ़ना, अलग राज्य या जिलों की माँग करना, दंगा-फसाद करना यही तो आज की नियति है। हम लोगों को मरने-मारने पर उतारू हैं। इन्हीं स्वार्थों के वशीभूत होकर आज हिंदू ऊँच-नीच का भाव बरत रहे हैं और आपस में लड़ रहे हैं। मुसलमान शिया और सुन्नी के नाम पर लड़ रहे हैं। उधर सिख और हिंदू भी लड़ रहे हैं और हिंदू-मुसलमान का झगड़ा तो पुराना है ही। राज्य-राज्य में लड़ाई हो रही है तो एक देश दूसरे देश से लड़ रहा है। अनेकता में एकता का सिद्धांत आज गायब होता दीख रहा है, दरअसल अँधविश्वास ने हमें अँधा बना रखा है, जिसके कारण हम पथ-भ्रष्ट हो चुके हैं और सांप्रदायिकता की ओर हम ढकेल दिए जा रहे हैं। ईश्वर है या नहीं, पर उनके प्रतिश्रद्धा दिखाने के लिए हम दूसरे धर्मावलंबियों से घृणा तक करने लगते हैं, उनका जान-लेवा तक बन जाते हैं, धर्म की रक्षा के नाम हथियार जमा करने लगते हैं। ऐसा मानव से अधिक धर्म को प्रश्रय देने की वजह से होता है। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि लोगों को अँधविश्वास से मुक्त कराने में योगदान करें। सच्चाई यह है कि धर्म को मनवाने के लिए धर्म के ठेकेदार भगवान का भय दिखा रहे हैं, क्योंकि धर्म के नियम बनानेवालों को यह भय होता है कि यदि लोगों को भय न दिखाया गया तो उनके द्वारा चलाए गए धर्म के नियमों को कोई नहीं मानेगा। इस प्रकार संकीर्णता, रुढ़िवादिता और अँधविश्वास से भरा धर्म आज

वस्तुतः समाज और मानवता के विनाश का कारण बनता जा रहा है। इसलिए हमने धर्म की अपेक्षा कर्म की प्रधानता को स्वीकारा है। समाज व देश का कल्याण तभी संभव है जब मानवता को ही धर्म मानकर अपना कर्म करें। धार्मिक आडंबरों को त्याग कर हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना होगा ताकि हमारे मन में धार्मिक कट्टरता और उन्माद के स्थान पर संपूर्ण मानव जाति के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न हो सके और हम परस्पर अमन व शांति से रह सके। साथ ही सनातनी हिंदू-परंपरा को सामान्य जन के उत्थान से जोड़ा जाए, क्योंकि यह दो वर्णों के बीच की असमानता, जातियों के बीच विद्वेष, स्त्रियों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार से सदियों से ग्रस्त है। ढोंग और मिथ्याडंबर का जो जाल आज बुना जा रहा है उससे जन्मजात वर्ण-व्यवस्था को बरकरार रखने की साजिश चल रही है, क्योंकि इसी से समाज पर निरंकुश सत्ता प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। इसलिए आज जरूरत है क्रांतिकारी विचारों को लेकर आगे बढ़ने में सावधानी यह बरती जाए कि कालांतर में यह विचार शोषक वर्ग के साथ, एकात्मक न हो जाए। यदि वैसा हुआ तो वही रुढ़ि हो जायगा। इसलिए उसे त्याग कर आगे बढ़ने में ही समाज का कल्याण है। रुढ़ियों से न घबराते हुए रवीन्द्रनाथ टैगौर की भाषा में हमें सड़ेगलों को कुचलकर, उन्हें आघातों से जगाकर अपने पथ का निर्माण करना होगा। इस दृष्टिकोण से प्रायः सभी धर्म के समाज विशेष तौर पर हिंदू समाज द्वारा बदलते समय के अनुसार अपने आपको ढालने की बड़ी आवश्यकता है। वह अपने शाश्वत, सनातन विचारों को नई शक्ति भी प्रदान कर सकता है। यह तभी संभव है जब हम बदलते हुए युग में अपने पुराने घिसे-पिटे धर्म के रूप पर फिर से विचार करें और हिंदू-समाज के नवजागरण और नवनिर्माण का प्रयास करें। जबतक धर्म के द्वारा फैलाई गई बुराइयों और गंदगियों का अंत नहीं हो जाता तबतक हमारा देश व समाज सही मानों में प्रगति नहीं कर सकता।

सच तो यह है धर्म, अध्यात्म और दर्शन को समझ लेने के बाद यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जानी चाहिए कि धर्म का भगवान से, देवी-देवताओं से तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि से कोई वास्ता नहीं है। धर्म पूरी तरह इसी संसार का, इसी समाज का तथा इसी जीवन का विषय है। केवल मानवमात्र के लिए नहीं, बल्कि प्राणिमात्र की भलाई के लिए अपने स्वार्थों एवं हितों का त्याग करना और कर्म करना ही धर्म है। तुलसी ने दूसरों के हित को ही सबसे बड़ा धर्म माना है तभी तो वे कहते हैं -

'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई!
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।'

इस देश की जनता धर्म के प्रति बुरी तरह अँधश्रद्धालु और अँधभक्त है। छोटे मोटे रीतिरिवाजों, शादी-विवाहों या जन्म मृत्यु के अवसरों पर होनेवाले खर्चों को छोड़ भी दें तो कुंभ-महाकुंभ, संक्रांति पुण्य, सोमवती स्नान, चारों धर्म, धार्मिक मेलों, सत्संग समारोहों के अतिरिक्त तिरुपति, देवघर, वैष्णों देवी, हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन, नासिक में स्नान, हज के लिए मक्का-मदीना आदि तीर्थ स्थलों में लाखों लोगों का जाना और इतने अधिक पैसों का यदि हिसाब लगाया जाय तो वह अरबों रुपए प्रतिवर्ष होगा और उसकी व्यवस्था पर करोड़ों का सरकारी खर्च होता है। यही नहीं महीनों-महीनों मानव-श्रम का दुरुपयोग होता है। पर्यटन की दृष्टि से यदि इन स्थलों का भ्रमण किया जाता है तो बुरी बात नहीं, किंतु आडंबर और पाखंड की पूजा कर चले आना पर्यटन का अर्थ नहीं है।

इसी को मद्देनजर रखते हुए अपनी "विचार दृष्टि" पत्रिका के सांस्कृतिक प्रतिनिधियों के माध्यम से देश के कई नगरों व कस्बों में एक सर्वेक्षण करवाया गया जिसमें समाज के सभी तबकों एवं वर्गों के लोगों से 'धर्म की इतनी चर्चा, संस्कृति का इतना गुणगान फिर भी देश क्यों इतना लहूलुहान' विषय पर न केवल जनमत तैयार किया, बल्कि इस विषय को बहस का मुद्दा बनाकर दिल्ली तथा पटना जैसे शहरों में विचार-संगोष्ठियाँ आयोजित कर उसके नतीजों को प्रकाशित किया गया ताकि आमजन असलियत से वाकिफ हो आंदोलित हो सके। जब करोड़ों लोग इन तीर्थ-स्थलों का भ्रमण कर देवी-देवताओं के दर्शन करते और पुण्य कमाते हैं तो इतने आस्थावान होने के बावजूद भारत में इतनी हिंसक प्रवृत्तियाँ आखिर क्यों बढ़ रही हैं, घृणा, द्वेष, हत्या, बलात्कार, अपहरण, रंगदारी आदि की घटनाओं में इतनी अधिक वृद्धि क्यों हो रही है? आज भारत सरीखे विकासशील देश में ही नहीं विकसित देशों में भी अमेरिका जैसा विश्व का सर्वशक्तिशाली देश भी आतंकवाद से त्राहि क्यों कर रहा है? दरअसल, आज समाज के लोगों में यह एक क्रेज बनता जा रहा है कि दूसरों को ठगने, बेईमानी व घूसखोरी करने, चोरी-चमारी और व्यभिचार, हत्या व बलात्कार, अपहरण और रंगदारी जैसे दुष्कर्म करनेवाले लोग भी तीर्थयात्रा और देवदर्शन का सस्ता नुस्खा अपनाकर अपने पाप धोने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और उन तीर्थों में रहनेवाले पंडे-पुजारी तथा साधुबाबा भी अपनी प्रार्थना, प्रसाद तथा आशीर्वादों से तीर्थयात्रियों को पापमुक्ति का आश्वासन देते हैं, किंतु सच्चाई यह है कि न तो उनके पाप धुल पाते हैं और न उनका मन साफ हो पाता है। यही कारण है कि वही तीर्थ यात्री जब वापस घर लौटता है तो पुन: उन्हीं घृणित कार्यों में लिप्त हो जाता है। विचार दृष्टि के सौजन्य से डॉ. अरुण कुमार गौतम तथा मानवेन्द्र सरीखे सांस्कृतिक प्रतिनिधियों द्वारा किए गए सर्वेक्षण रिपोर्ट के आधार पर जनमत के नतीजे भी कुछ इसी प्रकार के निकले हैं। इसलिए

समय का तकाजा है कि धर्म के नाम पर चले आ रहे इन षड़यंत्रों, आडंबरों और पाखंड-लीलाओं का अंत होना चाहिए जिनकी वजह से जनशक्ति और धनशक्ति का एक बड़ा भाग फिजूल ही नष्ट हुआ जा रहा है। साथ ही, पाप से मुक्त होने के इन सस्ते नुस्खों द्वारा लोग नैतिक दृष्टि से दिवालिया भी हुए जा रहे हैं। इस अंधा श्रद्धा और अंधा, भक्ति की बाढ़ को रोकने के लिए प्रबुद्ध व्यक्तियों को आगे आना होगा तथा लोगों को अपने विवेक से यह देखने के लिए प्रेरित करना होगा कि वे, जो कुछ कर रहे हैं उससे किसका क्या भला हो रहा है? यह लोक तो बिगाड़ ही रहा है, परलोक अगर है भी कहीं तो इस लोक में बोए गए इन बीमार बीजों से अच्छे फल कहाँ मिलेंगे? कैसे मिलेंगे?

यदि धर्म जाग्रत नैसर्गिक बन जाए, तो दुनिया का चेहरा और चरित्र बदल जायगा। आज के दौर में धर्म और राजनीति का क्या रिश्ता है धर्म और राजनीति के तिकड़मी समीकरण को मस्त मौला कवि स्वामीनाथ की निम्न पंक्तियों के भीतर देखते हैं-

''उनके धर्म के पांव जितने लंबे हैं,
इनकी राजनीति का माथा उतना ही ऊँचा है,
कितनी बारीकी से रेल के दो इंजनों की तरह,
भिड़ा देता है खुदा और भगवान को।''

सांप्रदायिकता का जहर

सच कहा जाए तो धर्म के राजनीतिक उपयोग से धर्म को भी बचना चाहिए और राजनीति को भी। संविधान, कानून, न्याय प्रणाली, समाचार व संचार-माध्यमों, सरकार-संसद और अन्य तमाम सार्वजनिक केंद्रों और राज्य के अंगों को 'धर्मनिरपेक्ष' अथवा पंथनिरपेक्ष रहने में ही स्थिति अधिक सुखद मालूम होती है। इनके धर्ममय हो जाने में खतरे-ही-खतरे हैं। इसलिए धर्म को अपना सर्वग्रासी रूप छोड़कर उदात्त नैतिकता वाले तत्त्व-कर्म और आचरण को अपनाने में ही देश व समाज का कल्याण है।

अगर किसी जमाने में राजनीति धर्म की चेरी रही होगी तो आज धर्म राजनीति का अनुचर मात्र रह गया है। आज राजनीति के साथ-साथ धर्म भी समाज को बाँट रहा है। यह धर्म जिस किसी का हो, अपने वर्तमान रूप में अपने धर्म के साथ समाज को भी घिनौना कर रहा है।

सच कहा जाए तो धर्म का संबंध आस्था, विश्वास और आचरण से होता है। हर धर्म मनुष्य को जीवन जीने की कला को सिखाता है, लेकिन धर्म के

नाम पर कट्टरता और असहिष्णुता फैलाने का कार्य आज न केवल भारत में वरन् अन्य कई देशों में हो रहा है। भोली-भाली अशिक्षित जनता को धर्म के नाम पर बरगलाया जा रहा है। गरीब मुल्कों में बेरोजगारी और अशिक्षा दो ऐसे बड़े मुद्दे हैं जिनकी वजह से यहाँ धर्म के नाम पर न जानें क्या-क्या किए जा रहे हैं। शायद यही कारण है कि गरीब देशों में धार्मिक रूझान लोगों में बढ़ता जा रहा है। हमारे लोकतंत्र की विशिष्टता पंथनिरपेक्षता में है। अतएव हमें इसकी विशिष्टता को अक्षुण्ण रखना होगा, तभी देश का समुचित विकास संभव है। दुनिया का सबसे प्रसिद्ध जीवित नास्तिक माना जाने वाला ब्रिटिश वैज्ञानिक रिचर्ड डॉकिंस धर्म को एक 'वायरस' की तरह मानते हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक दूसरे तक पहुँचाया जा रहा है। उनके मुताबिक, बच्चों पर धर्म थोपकर, जो कि इतने अनुभवहीन और अबोध होते हैं कि इस बारे में स्वयं निर्णय नहीं ले सकते, हम उन तमाम मान्यताओं और विश्वासों को 'अमर' बना रहे हैं जो बाद में उन्हें हिंसा और असहिष्णुता की ओर ले जाते हैं। धर्म इतना शक्तिशाली है कि यह लोगों को दया, क्षमा, और उच्च मानवीय मूल्यों के लिए की गयी प्रार्थनाओं के प्रति भी लोगों का डर खत्म कर देता है। एक मानव बम भी ईमानदारी के साथ यह मानता है कि शहीद की मौत उसे सीधे जन्नत पहुँचा देगी। यह विश्वास उसे धर्म और आस्था के जरिए ही दिया जाता है। हालांकि डॉकिंस मानते हैं कि ज्यादातर धर्मपरायण लोग शालीन और मर्यादित हैं।

सवाल है कि तमाम बुराइयों की जड़ होने के बावजूद धर्म विश्वव्यापी क्यों है और हर संस्कृति में पूजा पद्धतियाँ क्यों हैं? इसका भी जवाब डॉकिंस के पास है- 'धर्म उन मानसिक क्षमताओं का 'बाइ-प्रोडक्ट' है जिसका विकास अन्य उद्देश्यों के लिए हुआ था। बच्चे इस तरह 'प्रोग्राम्ड' होते हैं कि उन सब बातों पर विश्वास कर लेते हैं जो उनके माता-पिता उन्हें बताते हैं। इस तरह ढेर सारी व्यर्थ की सूचनाएँ परंपरागत रूप में उन्हें दे दी जाती हैं। तब बिना धर्म के खुशहाल किस तरह रहा जाए?

टी. एस. एलियट ने कट्टरवादियों को धर्म के घटियापन का पर्याय माना है। कीट्स कहते हैं कट्टरपंथियों के अपने स्वर्ग होते हैं, जहाँ वे अपने संप्रदाय के लिए स्वर्ग की रचना करते हैं। कॉम्ट के अनुसार अँधविश्वासों और रुढ़ियों में जकड़े हुए धर्म का आध्यात्मिक अलौकिक रूप व्यर्थ है। स्वामी विवेकानंद ने स्पष्ट कहा है-"मुझे मुक्त हो ऊँचे आकाश में प्रतिष्ठित होने की परवाह नहीं है, मैं हजारों-हजार नरक भी भोग सकता हूँ, पर दूसरों की भलाई का काम अनवरत एक गिरते झरने की तरह करता रहूँगा, यही मेरा धर्म है।"

●

"उचित नीतियों तथा प्रशासनिक प्रक्रियाओं का निर्माण, विनियम विधियों में बदलाव, भागीदारों की पहचान तथा युवा और ऊर्जावान नेताओं को तैयार करना बड़ी चुनौती है। ज्ञानवान समाज की स्थापना के लिए जरूरी दूसरे अवयव अर्थात धन के निर्माण के उद्देश्य से नागरिक को केंद्र में रखकर दृष्टिकोण अपनाया जाए, ताकि व्यापार नीति, प्रयोगकर्ता-प्रेरित प्रौद्योगिकी निर्माण और सघन उद्योग-प्रयोगशाला-शिक्षण संस्थान से संपर्क एवं समन्वय कायम किया जा सके।"

–राष्ट्रपति डॉ॰ एपीजे अब्दुल कलाम

भारतीय राजनीति का वर्तमान परिदृश्य

राजनीतिक दलों को अपने पॉकेट में रखकर घूमने वाले नेताओं को पता नहीं है कि उन्हें जनता 'मसखरा' और धोखेबाज समझती है और जो उन्हें फूलमाला पहनाते हैं, वे चापलूस और ढिंढोरचो हैं। वस्तुतः अहं, व्यक्तिवाद, प्रभुत्व और वर्चस्व अब किसी भी राजनीतिक दल के टूटने के प्रमुख कारण तो हैं ही, पर जब कभी दो या तीन पार्टियों के विलय की बात आती है तो उसमें भी उन दलों के सुप्रीमों को मात्र चुनाव में विजय दिलाने की ही मंशा रहती है, समाज की हालत को बदलने का नहीं। दरअसल राजनीतिज्ञों की जो मौजूदा पौध है उसका तो समाज सेवा से कहीं कोई लेना-देना ही नहीं। यह वह पौध है जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कानून तोड़ने में माहिर है और जिसने राजनीति को कानून से बचे रहने का माध्यम मान रखा है। आखिर तभी तो उच्चतम न्यायालय को यह कठोर टिप्पणी देने के लिए मजबूर होना पड़ा कि आज की राजनीति कानून

तोड़ने वालों के लिए स्वर्ग बनती जा रही है।

आज राजनीति में दागदार छवि और आपराधिक चरित्रवाले लोगों की संख्या में जिस प्रकार लगातार वृद्धि होती चली जा रही है, उसमें सबसे बड़ी चिंता की बात यह है कि राजनीतिक पार्टियाँ इस स्थिति से जूझने के लिए तैयार नहीं नजर आतीं, बल्कि सच तो यह है कि राजनीतिक दल ऐसे लोगों को अपनाने के लिए अधिक उतावले रहते हैं, जो एन-केन-प्रकारेण चुनाव जीतने की क्षमता रखते हैं। यह सत्ता विधि के शासन के लिए खतरे का संकेत है। चूंकि राजनीतिक दल इस खतरे की घंटी को सुनने से जानबूझकर इनकार कर रहे हैं इसलिए आम जनता को ही चेतना होगा। यदि आम जनता अपने अधिकारों और दायित्वों के प्रति सचेत हो सके तो राजनति को अपराधी तत्त्वों के दबदबे से मुक्त किया जा सकता है। बेहतर यह होगा कि जो लोग भी राजनीति को साफ-सुथरा बनाने के लिए संकल्पित हैं वह ऐसी कोई पहल करें जिससे आम जनता के स्तर पर जागरूकता और वह जातिवाद, संप्रदायवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद आदि से मुक्त होकर राजनीति के अपराधीकरण के विरुद्ध मजबूती से खड़ी हो सके, क्योंकि राजनीति समाज और राष्ट्र को दिशा देने वाली व्यवस्था होती है, न कि कानून तोड़ने वालों की शरण स्थली।

राष्ट्रपति ए. पी. जे. अब्दुल कमाल ने अपनी पुस्तक 'तेजस्वी मन' के 'ज्ञानवान समाज' शीर्षक विषय में कहा है कि-"उचित नीतियों तथा प्रशासनिक प्रक्रियाओं का निर्माण, विनियम विधियों में बदलाव, भागीदारों की पहचान तथा युवा और ऊर्जावान नेताओं को तैयार करना बड़ी चुनौती है। ज्ञानवान समाज की स्थापना के लिए जरूरी दूसरे अवयव अर्थात धन के निर्माण के उद्देश्य से नागरिक को केंद्र में रखकर दृष्टिकोण अपनाया जाए, ताकि व्यापार नीति, प्रयोगकर्ता-प्रेरित प्रौद्योगिकी निर्माण और सघन उद्योग-प्रयोगशाला-शिक्षण संस्थान से संपर्क एवं समन्वय कायम किया जा सके।"

राष्ट्रपति के उपर्युक्त विचारों पर भले ही देश की जनता का ध्यान जाए मगर खादी में लिपटे नेताओं के चेहरे पर उभरे स्वार्थी, भ्रष्ट और सत्ता की भूख, सरकार की उचित नीतियों को कार्यान्वित होने दे तब न? आज की प्रगतिशील जनता सामाजिक परिवेश को ऊँचाई पर ले जाना चाहती है जिससे उसकी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति हो सके। लेकिन स्वार्थी राजनेताओं के मायाजाल में उलझकर सारी आकांक्षाएँ राजनीति की भेंट चढ़ जाती हैं। इस परिस्थिति में देश की बुनियाद कब तक टिकी रह सकती है जहाँ नेताओं की झूठी दलीलों और आश्वासनों से देश की नींव डगमगा रही हो।

पारदर्शिता का अभाव

दरअसल आज के सार्वजनिक जीवन में गिरते मूल्य-मर्यादाओं के साथ-साथ पारदर्शिता का पूरा अभाव दिखता है। सार्वजनिक जीवन में पारदर्शिता के प्रसंग में एक बार गाँधी जी की पौत्री श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी से डॉ॰ ए. पी. जे. अब्दुल कलाम ने पूछा--क्या आपको अपने दादाजी के जीवन की कोई खास घटना याद है? सुमित्राजी ने इसके उत्तर में एक कहानी सुनाई, जिसे राष्ट्रपति डॉ. कलाम ने अपनी पुस्तक 'तेजस्वी मन' के 'ताकतों को एकजुट करना' शीर्षक लेख में यों रेखांकित किया है--

'जैसा कि आप सभी ने सुना होगा कि हर रोज शाम को एक निश्चित समय पर महात्मा गाँधी एक प्रार्थना सभा में भाग लिया करते थे। प्रार्थना के बाद हरिजनों तथा अन्य लोगों के कल्याण के लिए उपहार आदि इकट्ठे किए जाते थे। गाँधी जी के भक्त समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों से मिले इन उपहारों को प्राप्त करते थे और फिर गाँधी जी के निर्देश पर कुछ लोग इनकी गिनती किया करते थे। जो भी राशि इस प्रकार प्राप्त होती थी उसके बारे में रात्रि भोजन से पहले गाँधी जी को बताया जाता था। अगले दिन बैंक का आदमी आकर पैसे जमा कराने के लिए ले जाता था।

'एक दिन उस आदमी ने बताया कि उसे दी गई धनराशि में, गाँधी जी को पिछली रात बताई गई रकम के मुकाबले, कुछ पैसों की कमी है। गाँधी जी यह सुनकर इतने दु:खी हुए कि वे यह कहकर उपवास पर बैठ गए कि यह गरीब आदमी का दान है और हमें इसे गँवाने का कोई हक नहीं है।' यह घटना सार्वजनिक जीवन में पारदर्शिता की मिसाल है। सच कहा जाए तो पारदर्शिता विकास की सबसे मुख्य शर्त है जिसे हम खोते जा रहे हैं। हम सभी को अपने देश की प्रगति के लिए आजादी पाने के वक्त जैसा पारदर्शी आंदोलन प्रारंभ करना चाहिए।

इच्छाशक्ति की कमी

आज की भारतीय राजनीति में अधिकांश राजनेता नैतिकता व शुद्ध आचरण की लंबी-लंबी बातें बनाने का काम कर रहे हैं, आदर्शों का उपदेश दे रहे हैं, जिससे किसी का पेट नहीं भर सकते। ये उपदेश धर्म के ठेकेदारों को ही शोभा देते हैं, जिन्हें भारतीय संस्कृति में हराम का खाने व जनजीवन को भ्रष्ट करने की खुली छूट मिली हुई है। राजनीति थोथे आदर्शों से नहीं चलती। उसके लिए चाहिए दृढ़ संकल्प, कठोर अनुशासन, दृढ़ इच्छाशक्ति और रचनात्मक कार्य

करने की क्षमता। आदर्श चाहे कितने ही ऊँचे क्यों न हों, व्यावहारिक परिणति से ही उनकी कीमत आँकी जा सकती है।

धर्म और राजनीति के संदर्भ में लोहिया का विचार था कि जिस प्रकार किसी नीति के शिखर तक पहुँचने के लिए निश्चित कार्यक्रमों के सोपान का अवलंबन करना पड़ता है। उसी प्रकार धर्म के मूल तत्त्व की संस्थापना के लिए उत्पन्न व्यवधानों, विसंगतियों और विषमताओं को समाप्त करना ही सही राजनीति होगी। गीता में इस श्लोक से इसे समझा जा सकता है--

''परित्राणाय साधूनाम
विनाशाय च दुश्कृताम्
धर्म संस्थापनार्थाय
संभवानि युगे युगे।''

मठाधीश इस श्लोक का जो अर्थ लगावें लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि जो कमजोर है, किसी का नुकसान नहीं करता, वही साधु है और उसकी रक्षा करना तथा अन्यायी का विनाश करना पहला काम है और यही राजनीति है। इसके बाद ही धर्म संस्थापन की शुरुआत संभव है।

लोहिया के संकल्प का पहला चरण था--सत्ता के परंपरागत एकाधिकार की समाप्ति, सहयोग का विकल्प तथा समयबद्ध न्यूनतम कार्यक्रम में सहमति और क्रियान्वयन, ताकि आगे का मार्ग प्रशस्त हो। लोहिया ने दल से अधिक महत्त्व उन सिद्धांतों के मजबूत खूटों को दिया जो राजनीतिक दलदल की फिसलन से समाज को बचा सके।

समय-समय पर देश में उमड़ती हलचलों, निरंतर घोषणाओं, आश्वासनों के बावजूद सदियों से उपेक्षित वर्ग को सत्ता की न्यूनतम भागीदारी भी नहीं मिली। यही उपेक्षा है जो कहीं कश्मीर, कहीं पंजाब, कहीं असम, कहीं झारखण्ड में अलग-अलग स्वरूपों में मुखर हुई। इस मुखरता की तीव्रता ने देश की अस्मिता और अखण्डता को ही संकटापन्न किया है।

इसी सिलसिले में मैं बता दूँ कि राजनीतिक रोटियाँ सेंकना आसान नहीं। इसमें दूरदृष्टि की सतर्कता जरूरी है। कब, कहाँ और कैसे आग लगाई जाए और कैसे बिना दामन झुलसाए रोटियाँ सेंकी जाएँ यह सबके बस की बात नहीं, इसे अनुभवी तथा राजनीतिक सूझबूझ रखने वाले ही समझ सकते हैं। 1947 के बाद से अब तक भारतीय समाज की दशाओं को नियमित और नियंत्रित करनेवाली केंद्रीकृत सत्ता की कारगुजारियों और उसका अनुगमन करने वाली सांस्कृतिक बौद्धिक प्रवृत्तियों पर प्रहार करने की जरूरत है। केंद्रीकृत राजनीतिक सत्ता सारे समाज का नियमन करे। यह उन पश्चिमी देशों की अभिशप्त आधुनिकता और

उससे उत्पन्न संस्थाओं के मस्तिष्कहीन आयात का परिणाम है जिसकी नकल में हमने अपने अतीत और अपनी परंपरा को नितांत अनुपयोगी मान कर भुला दिया है। इस तरह की विस्मृति किसी भी समाज को जहाँ ले जा सकती है वहीं हम पहुँचे हैं।

जनता के पैसे पर ऐश

आज भारतीय राजनीति की स्थिति यह हो गयी है कि सांसद या विधायक अथवा सत्ता की किसी कुर्सी पर बैठने वाले किसी भी नेता में जनता के पैसे को लूटने की प्रवृत्ति आ जाती है, जिसे जितना लूट सको लूट लो न जाने कब पाँच वर्षों का छोटा सा समय पार कर जाएँ आखिर तभी तो 'दिनकर' जैसे महाकवि ने मात्र छह वर्षों तक के लिए 'राज्य सभा' के मनोनयन के दु:ख को झेला और पाँच दशकों तक तुमुलनाद कर दिया–

"कुछ समझ नहीं आता, रहस्य ये क्या है,
जाने भारत में बहती कौन सी हवा है।
गमलों में है जो खिले सुरम्य सुदल हैं,
मिट्टी के ही फूल दीन दुर्बल हैं।
जबतक ये वैधव्य समाज सड़ेगा,
जाने कैसे होकर एक, ये देश लड़ेगा।"

दिनकर ने भी उसी सड़ाँध को महसूस किया, जिसे लिंगदोह पाँच दशकों बाद परिभाषित कर रहे हैं। भारतीय राजनीति के साथ बड़ी अजीब त्रासदी है। दर्द का हद से गुजरना है, दवा हो जाना। घोटाले और भ्रष्टाचार की नई खबरों से जनमानस की बेरूखी बहुत चिंता का विषय है। लोगों के मन में यह बात घर करती जा रही है कि कोई कितनी भी बेईमानी क्यों न कर ले तथा सरकारी धन का कितना दुरुपयोग क्यों न कर लें, दंडित किसी को नहीं होना है। किसी भी देश के लिए यह स्थिति ठीक नहीं कही जा सकती, जन साधारण का व्यवस्था पर से विश्वास कम हो जाना एक गंभीर बात है। व्यवस्था में ही बैठे लोगों को भ्रष्टाचार समाप्त करने की पहल करनी होगी। अपने ही बीच के लोगों के विरुद्ध न बोलने का जो संस्कार हमारे देश में स्थापित हो चला है वह भ्रष्टाचार को दूर करने में सबसे बड़ा बाधक बन रहा है। कभी सेवा संगठन तो कभी राजनीतिक दल अपने-अपने समूह का अहित होने का तर्क देकर भ्रष्टाचार के खिलाफ, विरोध के स्वरों को रोकने का काम भी भ्रष्टाचारी ही करते हैं।

वे भ्रष्टाचार रोकने में समर्थ कोई कठोर कानून न बनने देने के लिए सक्रिय हो जाते हैं। इसके लिए वे अपने पद और प्रतिष्ठा का जमकर दुरुपयोग करते हैं।

व्यवस्था में बैठे लोगों का देश का सार्वजनिक हित देखकर ही निर्णय लेने होंगे न कि अपने, छोटे-छोटे समूहों के हितों को देखकर। व्यवस्था में शीर्ष पर बैठे लोगों को अज्ञात भय को त्यागना होगा क्योंकि सच के लिए उठाया गया कोई भी कदम किसी का अहित कर ही नहीं सकता। कुछ समय के लिए ऐसा आभास भले ही लोगों को हो सकता है कि नियमानुसार कार्य से कठिनाई हो रही है, परंतु धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो जाता है कि देश या समाज हित को ध्यान में रखकर किए गए कार्य का कभी भी कोई दुष्परिणाम नहीं होता।

देश का कोई भी कानून बेईमानी करने की अनुमति नहीं देता। देश हित या जनहित विरुद्ध कार्य तो स्थापित नियमों एवं कानून को तोड़ने पर ही होता है। अब वह समय आ गया है जब व्यवस्था में बैठे लोगों को निहित स्वार्थ से ऊपर उठकर केवल देश के हित में स्थापित नियमों-कानूनों के अनुसार ही कार्य करना होगा।

लोकतंत्र वही, जो नेता मन भाए।
आज इससे भारतीय लोकतंत्र का सही रूप निखरता था।
समस्या तब होती है, जब इनमें से कोई मंत्री बन जाता है।
जनता को इन्हें माननीय लिखना पड़ता है।
बस अब जनता भी जल्दी ही
इस समस्या का कोई समाधान ढूँढ़ लेगी
क्योंकि भ्रष्टाचार अब पराकाष्ठा पर है।

यह एक अजीब विडंबना है कि इस देश में एक बार सांसद बनते ही नेतागण जिंदगी भर देश की जनता के पैसों पर ऐश करते हैं जबकि विदेशों में सांसद बनने की अवधि के बाद अपनी पुरानी नौकरियों या पेशे में वापस चले जाते हैं। भारत जैसे देश में नेतागिरि को, सेवा का दर्जा देनेवाले ये नेता, सिर्फ एक बार धन या बल के आधार पर सांसद बनकर, जिंदगी भर के लिए जनता के रक्तचूसक बन जाते हैं। यह जनता की सेवा व लोकतंत्र का खुला मजाक है। लोकतंत्र की आज की राजनीति में नैतिकता का तत्त्व गायब हो गया है। राजनीति में नैतिकता का कोई स्थान नहीं है--यह तो कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और चार सदी पहले के यूरोपीय चिंतक मैकियावली के 'प्रिंस' पुस्तक को पढ़ कर अच्छी तरह समझा जा सकता है। दुर्भाग्य यह है कि आज का शासक सबसे अधिक चूना राज्य को ही लगाता है। भ्रष्टाचार का सबसे खतरनाक पहलू यह

है कि उसके कारण राज्य को हानि होती है और इसमें आर्थिक हानि भी शामिल है। कहा जाता है कि अकेले तेलगी स्टांप घोटाले में 37,000 करोड़ रुपए के बारे-न्यारे हुए। यह राशि राज्य के कोष में जानी थी, लेकिन नकली टिकट और स्टांप पेपर छापने वालों ने राज्य को इस धनराशि से वंचित कर दिया।

खोखला होता देश

कुछ लोगों का यह कहना कि वैश्वीकरण और उदारीकरण की राह पर चलने से भारत तरक्की कर रहा है। मैं उनसे यह जानना चाहता हूँ कि आखिर भारत किस क्षेत्र और किस दिशा में आगे बढ़ रहा है। क्या इससे भारत की बेरोजगारी में कमी आई? क्या गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन करनेवाले लोगों के रहन-सहन में बुनियादी फर्क आया? क्या अमीरी और गरीबी के बीच असमानता का ग्राफ कुछ घटा? ये सब कुछ ऐसे सवाल है, जिन्हें एल० पी० जी० यानी लिबरलाइजेशन (उदारीकरण) प्राईवेटाइजेशन (निजीकरण) और ग्लोबलाइजेशन (वैश्वीकरण) के पैमाने पर यदि कसा जाए, तो भारत के लिए अब भी कोई स्पष्ट दिशा और दशा नजर नहीं आ रही है।

भारत में आज बेरोजगारी और गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों की जो स्थिति है, यह देश के आगे बढ़ने और अंदर ही अंदर खोखला होने की विसंगति पेश करती है। विश्व के पैमाने पर यदि देखा जाए तो इस समय 7 अरब की जनसंख्यावाले विश्व में आधी आबादी गरीबी रेखा के नीचे अपनी जिंदगी गुजार रही है। विश्व भर में बेरोजगारी का ग्राफ नीचे गिरने की बजाय ऊपर उठता जा रहा है। मसलन, ऐसे एक अरब कामगार हैं, जिनकी रोज की आमदनी एक अमेरीकी डॉलर के बराबर भी नहीं है। दो तिहाई गरीब लोग दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में रहते हैं।

भारत चाहे जितनी तेजी से वैश्वीकरण और उदारीकरण की दिशा में बढ़े, विषमता और बेरोजगारी पर असरदार अंकुश लग पाना कठिन है, क्योंकि भ्रष्टाचार की गंगोत्री घुन की तरह आर्थिक उदारीकरण से चिपकी हुई है। इस यथार्थ से इनकार नहीं किया जा सकता कि देश में जितनी तेजी से आर्थिक उदारीकरण बढ़ता जा रहा है उतनी ही तेजी से भ्रष्टाचार का फैलाव हो रहा है। राजनीति नौकरशाही, उद्योग के बीच का अदृश्य गठबंधन जूदेव, जोगी और जया की फसल बढ़ाती रहेगी और देश खोखला होता जाएगा।

बिगड़ा। न्यायपालिका के निचले स्तर पर उन्हें यदि कभी कोई सजा सुनाई भी गयी तो मामला ऊँची अदालतों तक पहुँचते-पहुँचते रफा-दफा हो जाता रहा। यद्यपि घपले-घोटालों का सिलसिला लगातार बढ़ता चला जा रहा है, किंतु घपले-घोटालों के लिए जिम्मेदार राजनीतिज्ञ पता नहीं कैसे और क्यों सजा पाने से बचने में सफल हो जाते हैं?

ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायिक सक्रियता का दौर भी अब समाप्त होने के कगार पर है। कुछ समय पूर्व केंद्रीय सतर्कता आयोग ने भ्रष्टाचार के खिलाफ कदम उठाते हुए भ्रष्ट माने जानेवाले दर्जनों वरिष्ठ नौकरशाहों के नाम अपनी वेबसाइट में उजागर कर एक हलचल-सी मचा दी थी पर न तो उनके आज वैसे तेवर नजर आ रहे हैं, और न ही उस बेबसाईट की कहीं कोई चर्चा है। बल्कि सच तो यह है कि भ्रष्टाचार के गंभीर आरोपों के बावजूद उत्तर प्रदेश के अखण्ड प्रताप सिंह को न केवल मुख्य सचिव का तोहफा दिया गया, बल्कि उस पद पर उन्हें तीन माह का विस्तार भी दिया गया, इसे विडंबना नहीं तो और आप क्या कहेंगे ? चाहे विधायिका हो या कार्यपालिका या फिर न्यायपालिका ही क्यों न हो, इनमें कोई भी भ्रष्टाचार के खिलाफ कुछ करने में समर्थ नहीं हो पा रहा है। यह दुखद स्थिति है।

आज जरूरत इस बात की है कि राजनीतिक दलों को सस्ती लोकप्रियता तथा तात्कालिक वाहवाही का रास्ता छोड़कर ठोस कदम उठाने चाहिए।

भारतीय राजनीति आज एक ऐसे मोड़ पर आ चुकी है कि मुद्दों के खरे विश्लेषण से कतरा रही है और नकली समस्याएँ बुन रही है। भूख, बेरोजगारी, मंहगाई, अराजकता, अपहरण, आतंकवाद जैसी मूल समस्याओं से लड़ाई की वे अपनी सामर्थ्य और इच्छा शक्ति खो चुके हैं या वे उसकी अनदेखी कर रहे हैं। नतीजा यह है कि सत्ता के गलियारे में आते-जाते चेहरे भले बदल जाते हैं पर कोई सकारात्मक परिणाम हासिल नहीं हो रहे हैं। किसी ने आज तक यह जहमत नहीं उठाई कि आर्थिक और सामाजिक विकास का वैकल्पिक ढाँचा क्या हो सकता है, देश के समग्र विकास की अवधारणा क्या है, भारत की सभी राजनीतिक पार्टियों ने इस सवाल पर चुप्पी साध ली है।

इसी प्रकार आरक्षण के मुद्दे पर बढ़-चढ़ कर घोषणाएँ करने के बावजूद किसी भी राजनीतिक दल के पास ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं है जो दलित व पिछड़े वर्गों सहित सवर्ण के गरीब तबकों के आर्थिक-सामाजिक उन्नयन की सही दिशा को तलाश सके। सब को यह पता है कि अनिवार्य होते हुए भी आरक्षण के बेहद सीमित फायदे हैं और ये फायदे भी अंततः आज उन्हीं को

हासिल हो रहे हैं जो दलित व पिछड़े समुदायों में अग्रणी पायदान पर हैं। आरक्षण की अवधारणा में यदि इसके साथ-साथ रोजगार के अवसर भी अधिक से अधिक मात्रा में उपलब्ध कराए जाएँ और सामाजिक परिवर्तन के लिए कोई प्रतिबद्धता हो तब तो कुछ माने-मतलब है वरना आरक्षण भी राजनीतिक तुष्टीकरण का एक हथियार होकर रह जाता है और खासकर चुनाव के दिनों में सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दलों में होड़ लग जाती है। सच तो यह है कि राजनीतिक पार्टियों द्वारा भी अपनी रोटियाँ सेंकने के लिए आरक्षण के सवाल पर बढ़-चढ़कर बयान देती रहती हैं और उसका पाठ रटा जाता है जिसके परिणामस्वरूप समाज में जात-पांत की भावना जस की तस रची बसी है। नेताओं के कथनी और करनी में फर्क होने की वजह से ऊँचे और निचले तो क्या पिछड़े और निचले में भी दूरी अभी कायम है।

आज देश को एक नयी दृष्टि और दिशा देने की आवश्यकता है तथा भारत को एक समृद्ध, गरीबी से मुक्त, स्वस्थ और विकसित राष्ट्र बनाना है, किंतु देश की राजनीति के पास आज वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव दिखता है जिसके चलते भारतीय राजनीति लगभग दृष्टिहीन हो चुकी है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय राजनीति में योग्यता, प्रतिभा, निष्ठा, कर्मठता और राष्ट्र भक्ति के लिए आज बहुत कम जगह रह गयी है, राजनीति धीरे-धीरे अपराधियों और भ्रष्टाचारियों के हाथों बंधक बनती चली जा रही हैं अतएव आज राष्ट्र में एक नई चेतना का जन्म देना है जिससे राष्ट्र स्वयं को संपूर्णता के साथ समग्र क्रांति के लिए अर्पित कर सके जैसा कि जे. पी. का सपना था। यह संपूर्ण क्राति तभी आएगी जब भारत का औसत नागरिक का हर स्तर पर विकास हो और इस विकास के लिए उसे उचित वातावरण मिले। जो राष्ट्र अपने नागरिकों के स्वस्थ विकास के प्रति चिंतित नहीं रहता और वैज्ञानिक चिंतन को बढ़ावा नहीं देता वह कभी आगे नहीं बढ़ पाता। इस बात में कतई संदेह नहीं कि इस देश की ढीली-ढाली अफसरशाही, लापरवाह कर्मचारियों का एक बड़ा वर्ग और वोट के लिए ही सब कुछ करने वाली प्राय: सभी राजनीतिक पार्टियाँ सच माने में देश की योजनाओं को कार्यान्वित करने की दिशा में अग्रसर न होकर बाधक बन रही हैं।

इस मायने में जनता भी कम दोषी नहीं है, क्योंकि जनता की उदासीनता की वजह से उनके द्वारा चुनी गयी सरकार मनमानी करती है। दरअसल हमारे देश में लोक शिक्षण का कार्य भी नहीं हो सका। लोकनायक जय प्रकाश ने कहा था कि जनता जब तक खुद खड़ी नहीं होगी उसकी कोई मदद नहीं कर सकता वैसे भी लोकतंत्र की सफलता जनता की जागरूकता पर निर्भर करती है। यदि जनता भ्रष्ट और बेईमान प्रतिनिधियों को चुनकर संसद व विधानमण्डलों में

भेजती है तो सत्ता में आकर वह भ्रष्टाचार और बेईमानी ही करेंगे।

दरअसल आज ऐसा कोई मसीहा नहीं जो सारी समस्याओं का समाधान निकाल सके। जनता को अपनी समस्याओं का हल स्वयं अपने हाथों निकालना होगा। वस्तुत: लोकतंत्र के इस मूलभूत तत्त्व को समझा नहीं गया है और इसलिए लोग समझते हैं कि सब कुछ सरकार या राजनीतिक पार्टियाँ कर देंगी हमारा कोई दायित्व ही नहीं है। यही कारण है कि देश की विशाल जनशक्ति उपयोगी पूँजी बनने के बदले आज बोझस्वरूप बन खर्राटे ले रही है। प्रजा की प्रचंड शक्ति अगर एक बार संगठित होकर कमर कस ले तो दुनिया की कोई भी सरकार उनके आगे बौनी लगेगी। इस दृष्टिकोण से जनता को स्वयं भी जाग्रत होना होगा और सरकार तथा राजनीतिक दलों की भी दृष्टि ऐसी होनी चाहिए जिससे जनता को प्रोत्साहन मिले।

देश की जनता को मालूम है कि चुनावी घोषणाएँ ख्याली पुलाव होती हैं जो पुलाव न तो कभी पकता है और न वास्तव में परोसा जाता है और जिसका सेवन तो होता ही नहीं है। हर राजनीतिक दल के नेता यह समझते हैं कि हम इस प्रकार से जनता को मूर्ख बना सकते हैं। यह कोई नयी नीति नहीं है। आजादी के तीसरे दशक के बाद ही यह कर्म प्रारंभ हो गया। चुनाव के पूर्व बिजली के खंभे गाँव तक गाड़े गए, पर तार कभी नहीं खींचे गए और चुनाव के बाद गाड़े गए खंभे भी विद्युत भंडार में जमा हो जाते या ठेकेदार पुन: उन्हें उखाड़ ले जाते। इस खेल में शासन पक्ष और विरोध पक्ष में कोई अंतर नहीं है। दोनों एक ही रंग में रंगे हैं।

चुनाव में विभिन्न राजनीतिक पार्टियों द्वारा उम्मीदवारों के चयन की प्रक्रिया और चयन के आधार के सवाल पर हमारा मानना है कि दोनों पर ही दलों का नजरिया बदलना चाहिए। आज प्राय: प्रत्येक दल में आंतरिक लोकतंत्र का लोप हो गया है और किसी एक नेता का एकाधिकार हो गया है जिसके चलते दलीय संगठन में विचारधारा से प्रतिबद्ध, कर्मठ और योग्य कार्यकर्ताओं को शीर्ष पर पहुँचने तथा जनप्रतिनिधित्व करने का अवसर नहीं मिल पाता है। अधिकतर उम्मीदवार संगठन के शीर्ष नेतृत्व की कृपा पर ऊपर से थोप दिए जाते हैं अथवा धनबली व बाहुबली ही टिकट प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

परिवर्तनकारी राजनीति

जहाँ तक परिवर्तनकारी राजनीति का प्रश्न है तो हर बदलाव की पहल मध्य वर्ग ही करता है। यद्यपि इस देश के मध्य वर्ग की संख्या अच्छी खासी है, किंतु सच तो यह है कि वर्तमान दौर में पूरा मध्य वर्ग उपभोक्तावाद की चपेट

में आ गया है। इस संदर्भ में दुःखद स्थिति तो यह है कि इस उपभोक्तावादी प्रवृत्ति के चलते मध्य वर्ग उपभोग की चीजों को जुटाने में वह उचित-अनुचित का भेद भी भूल गया है। उसका एकमात्र लक्ष्य पैसा बटोरना हो गया है, चाहे वह पैसा रिश्वत का ही क्यों न हो? इस मध्य वर्ग में प्रबुद्ध जन भी शामिल हैं जिसमें अधिवक्ता, चिकित्सक, प्राध्यापक, शिक्षक, साहित्यकार, पत्रकार, अभियंता आदि आते हैं।

ऐसी विषम परिस्थिति में विचारणीय यह है कि परिवर्तन की पहल करे तो कौन ? आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व चिंतक प्लेटो ने कहा था-"अगर अच्छे लोग राजनीति में नहीं आएँगे तो बुरे लोगों द्वारा शासित होने का दण्ड उन्हें भुगतना पड़ेगा।" भारत में आज यही हो रहा है। अतएव उचित तो यही होगा कि जो कुछ लोग ईमानदार, चरित्रवान, विचारवान एवं शिक्षित हैं वे अपने निजी स्वार्थों, सुख-सुविधाओं का त्याग करें और एकजुट होकर परिवर्तनकारी राजनीति की पहल करें।

प्रशासनिक तंत्र पर सवालिया निशान

एक वक्त था जब भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिसंख्य अधिकारी ईमानदार होते थे और सीमित आय में ही गुजारा करते थे। इस कारण समाज में उनकी काफी इज्जत थी, किंतु आज उनमें से ऊँगली पर गिनने लायक ही ईमानदार माने जा रहे हैं। आखिर तभी तो वे और उनके परिवार के सदस्य छुट्टियाँ मनाने विदेशों में जाते हैं, उनके बच्चे बेहतरीन देशी-विदेशी विद्यालयों तथा विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा उनकी पत्नियाँ ऐसे स्वैच्छिक संगठन चलाती हैं जिनमें सरकारी धन की हेराफेरी होती है। देश के बड़े-बड़े महानगरों में उनकी आलिशान कोठियाँ, फार्म हाउस, मंहगी कारें और तमाम नामी बेनामी संपत्तियाँ हैं। इन लोगों ने अपने ईर्द-गिर्द ऐसा फौलादी ढाँचा बना रखा है कि राज्य-व्यवस्था की ताकत भी उसे तोड़ नहीं सकती और समाज उनके कारनामों से परेशान है।

भारत में केंद्र एवं राज्य सरकारों के अंतर्गत कार्यरत कर्मचारियों की संख्या लगभग एक करोड़ 70 लाख है। इनमें से कोई 20 हजार केंद्रीय सेवाओं के अधिकारी प्रतिवर्ष तकरीबन चार लाख करोड़ रुपए की धनराशि के संग्रहण और वितरण पर नियंत्रण रखते हैं। इनमें भी 6000 भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी और इतने ही भारतीय राजस्व सेवा के अधिकारी देश की कारोबारी संभावनाओं को बनाते-बिगाड़ते हैं। इसी प्रकार देश में लगभग 150 सरकारी

विभाग हैं और सचिव स्तर के 180 अधिकारी हैं। उनमें 50 की ही जरूरत है। लगभग 100 विभाग और 130 सचिव अवांछित हैं लेकिन फिर भी वे बने हुए हैं। कुल मिलाकर लगभग 400 सचिवों, अतिरिक्त सचिवों 25 मुख्य सचिवों, 500 जिलाधिकारियों, 700 भारतीय आरक्षी सेवा, भारतीय विदेश सेवा और भारतीय राजस्व सेवा के अधिकारियों का दंश और उसकी प्रत्येक योजना एवं कार्यक्रम पर पूरी तरह से नियंत्रण है, लेकिन किसी भी योजना के लिए न तो वे जिम्मेदार हैं और न ही किसी योजना के अधूरेपन के बारे में उनसे सवाल किया जा सकता है। उधर योजनाओं की स्थिति यह है कि 80338 करोड़ रुपए की लागतवाली 60 बड़ी परियोजनाओं पर काम एक वर्ष से अटका पड़ा है। इसी प्रकार सिर्फ निजी क्षेत्र की 42 परियोजनाओं में 62389 करोड़ रुपए का निवेश फँसा पड़ा है।

हमारी राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था का इतना पतन हो गया है कि भ्रष्ट अधिकारी धन पहुँचाने की अपनी क्षमता के चलते हर सरकार के मंत्रियों के चहेते बन जाते हैं इसलिए भ्रष्टाचार के आरोपी अधिकारी अपने पद पर न सिर्फ बने रह जाते हैं, बल्कि उनकी प्रोन्नति भी हो जाती है। उनके विरुद्ध मुकदमा चलाने की अनुमति भी नहीं दी जाती ? इस प्रकार आज भ्रष्टाचार की समस्या दिन दोगुनी और रात चौगनी बढ़ती जा रही है इस हालात का एकमात्र कारण है नौकरशाह और राजनेताओं का गठबंधन।

देश में कोई भी राजनीतिक दल ऐसा नहीं है जो अफसरशाही के कामकाज के तौर-तरीकों में सुधार और भ्रष्टाचार मिटाने की बात न करता हो, लेकिन सत्ता में आने के बाद वह न केवल स्वयं भी उसमें लिप्त हो जाता है, बल्कि वह अफसरशाही का सबसे बड़ा संरक्षक और भ्रष्ट व्यवस्था का पोषक बन जाता है। अब तक का अनुभव यही बताता है कि कैसे भी गंभीर आरोप क्यों न हों बड़े अधिकारी व नेताओं का कुछ नहीं बिगड़ता। जाँच की प्रक्रिया ही ऐसी है कि वह गलत लोगों के लिए तो मददगार ही साबित होती है पर समाज को तो जरूर बर्बाद कर देती है।

आरक्षण का सवाल

एक ओर सरकारी क्षेत्र में रोजगार लगातार कम हो रहे हैं तो दूसरी तरफ आरक्षण का दायरा लगातार बढ़ता जा रहा है। दरअसल आरक्षण आज राजनीतिक दलों की चुनावी रेवड़ी बनता जा रहा है। समाज के गरीब वर्गों के रोजगार के लिए ठोस कदम उठाने में राजनीतिक तंत्र में संकल्प घटती जा रही है। केंद्रीय

श्रम मंत्रालय के आँकड़ों के अनुसार देश में बेरोजगारी की संख्या साढ़े तीन करोड़ को पार कर रही है। ऐसी स्थिति में जबतक रोजगार की गारंटी नहीं होगी तबतक आरक्षण के दायरे को बढ़ाते जाना भी एक राजनीतिक झुनझुना से अधिक साबित नहीं होगा।

सामाजिक परिवर्तन एक सूत्री राजनीति से नहीं हो सकता। उसके लिए कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर एक साथ नाराज करने की राजनीति की तो सार्थकता बनती है लेकिन अधिक से अधिक समय तक नाराज करने की राजनीति टकराव, हिंसा और अराजकता की दिशा में जाती है। आरक्षण के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन का जो दौर शुरू हुआ है वह रुकने वाला नहीं है। सवाल उसकी दिशा और गति तय करने का है, उससे हिंसा और नफरत के तत्त्व निकालने का है। हिंदू समाज के हितों की रक्षा करने वाली पार्टियों के पास अगर सचमुच हिंदू समाज के ढाँचे में परिवर्तन का कोई कार्यक्रम होता तो आज इतनी नफरत और नहीं देखने में आती। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक न्याय के व्यापक उद्देश्य से भटककर आरक्षण अब राजनीतिज्ञों के हाथ का औजार बन गया है।

भारतीय राजनीति में अंतर्विरोध और विरोधाभास संभवतः आजादी के पूर्व और बाद के काल तक रहे हैं, किंतु जिस प्रचंड रूप में वे आज हमारे लोकतंत्र के समक्ष चुनौती के रूप में हैं, उस रूप में शायद ही कभी रहे हों। कम से कम सैद्धांतिक और नैतिक स्तर पर आज जिस तरह की गिरावट देखने में आ रही है वह भयावह है और वह लोकतंत्र के लिए खतरे का संकेत है। घोषित रूप से मानव केंद्रीत राजनीति आज पूर्ण रूप से सत्ता केंद्रीत हो गई है। जनता की सेवा के लिए कृत संकल्प भारतीय राजनीति आज सबसे ज्यादा मानव विरोधी मुद्रा अपना चुकी है। सिद्धांत और व्यवहार, कथनी और करनी के बीच आज की राजनीति और उसके नेताओं में जो अलगाव देखा जा रहा है वह इस समय का सबसे बड़ा विरोधाभास है जिसको नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। संघर्ष के अलावे और कोई दूसरा रास्ता नहीं नजर आता है इस समस्या के समाधान के लिए। हिंदी साहित्य के सुपरिचित विद्वान रचनाकार गिरधर राठी ने भी 1998 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "उहापोह की राजनीति बनाम आदमी और उसके हक" शीर्षक लेख में आस्था,संकल्प और संघर्ष का एकमात्र रास्ता बताया है उससे बचने का। उनका कहना है कि दुनिया भर में जिन मूल्यों का टकराव है, उनमें से कुछ या कोई मूल्य चुनकर उसे हासिल करने का संकल्प लेकर संघर्ष करते रहना एकमात्र रास्ता है और यह करते हुए अधिकांश चिंतन प्रणाली अपने अंतर्विरोधों की अनदेखी करने को बाध्य है। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो राजनीति की अँधी गली से निकलने की छटपटाहट में ही मानवीय अधिकारों का रास्ता खोजा जा सकता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत सहित दुनिया के डेढ़ सौ देशों के संविधानों में से अधिकांश संविधान मनुष्यों को समर्पित हैं, किंतु वास्तविक स्थिति ठीक इसके विपरित है। वास्तविक स्थिति के कुछेक उदाहरण से ही रोंगटे खड़े कर सकते हैं, किंतु विडंबना यह है कि जब हम सुबह नाश्ते के वक्त समाचार पत्रों में आतंक, हत्या, बलात्कार, अपहरण, रंगदारी आदि जैसे मानवीय अपमान और यंत्रणा की खबरें पढ़ते हैं तो बस उसी चटपटे नाश्ते तक ही बात जहाँ की तहाँ रह जाती है, वह हमारी संवेदनाओं को झकझोर नहीं पाती और हम स्थित प्रज्ञ की तरह अपनी रोजी-रोटी के धंधों में जुट जाते हैं मानों वे घटनाएँ सामान्य जीवन के अंग बन गए हों।

दरअसल आजादी के पश्चात देश के संचालन के लिए जब संसदीय लोकतांत्रिक पद्धति अपनाई गई तब वोट राजनीति के जरिए सत्ता पाने का हथियार बना और इसी के कारण सांप्रदायिकता और जातीयता की काली छाया ने भारतीय राजनीति को अपने आगोश में ले लिया। फिर तब से राजनीतिज्ञों ने जनहित का भाव त्याग कर वोट पाने के लिए सांप्रदायिकता एवं जातीयता का दामन थामा। धीरे-धीरे इसी के तहत उन्होंने अपराधियों का सहयोग भी प्राप्त किया जिसका प्रतिफल है कि आज पूरी राजनीति का ही अपराधीकरण हो चुका है। आज स्थिति यहाँ तक बिगड़ चुकी है कि अब तो जहाँ इस जातीयता ने पूरे समाज को छिन्न-विछिन्न कर दिया है वहीं सांप्रदायिकता ने सारे राष्ट्र को विभाजित करने के कगार पर ला खड़ा कर दिया है जहाँ से वापस लौटना संभव नहीं हो पा रहा है। क्योंकि इसी के कारण धन, बल और अपराधी बल ने आज पूरे देश को हिंसक प्रवृत्ति की चपेट में ले लिया है।

भारत के लोकतंत्र को विश्व भर में मिसाल दी जाती है, किंतु इन दिनों यहाँ यह भी भीड़तंत्र में बदल रहा है और यह अराजक दौर से गुजर रहा है। जनता के प्रतिनिधियों को जनता से ही खतरा महसूस होने लगता है। आखिर क्यों ? ऐसा इसलिए कि चुनाव के दौरान गली-गली हाथ जोड़कर याचक मुद्रा में वोट के लिए गिड़गिड़ाने वाले नेतागण जब सत्ता की छाँव में जाते हैं और सत्ता की कुर्सी पर पदापण के बाद वैभव सुख का लुत्फ उठाते हैं तब अचानक वे 'दुर्लभ-वस्तु' के रूप में तब्दील हो जाते हैं। फिर जनता न केवल उनके एक दर्शन के लिए तरसती है, बल्कि कई लोग तो दर्शन नहीं होने पर निराश हो अपराधी का रूप धारण कर लेते हैं या आत्महत्या तक कर लेते हैं। जिस जनता की वोटों की बदौलत उन्हें सत्ता की कुर्सी मिलती है और वातानुकूलित बंगले, गाड़ी, दूरभाष और तरह-तरह की सुविधाएँ उपलब्ध की जाती हैं वही जनता उनके लिए परहेज की चीज हो जाती है। यानी जिस आधार पर उनकी चमक-दमक खड़ी होती है उसे वे अछूत समझने लगते हैं। यहाँ तक कि

राजनीतिक कार्यकर्ताओं से भी मिलना वे जनप्रतिनिधि दुस्वार समझते हैं। निश्चय ही लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में में यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। यही कारण है कि आम जनता में जहाँ असंतोष बढ़ता जा रहा है वहीं जनप्रतिनिधियों में असुरक्षा की भावना धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। आखिर तभी तो बुलेट प्रूफकारों एस. पी. जी. सुरक्षा और और जेड प्लस सुरक्षा का प्रचलन दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। लेकिन जैसे-जैसे उनकी सुरक्षा व्यवस्था में बढ़ोत्तरी हो रही है वैसे-वैसे वे और भी असुरक्षित होते जा रहे हं। तभी तो वे जुल्मों की चपेट में आते जा रहे हैं।

आज के नेता अपने स्वार्थ, अवसरवादिता और भ्रष्ट आचरण से जनता के बीच मात्र विश्वास ही नहीं खोते जा रहे हैं, बल्कि जनता के भीतर उनके प्रति नफरत और घृणा के भाव निरंतर गहरे होते जा रहे हैं। नफरत, निराशा और दुःख एक सीमा के बाद आक्रोश में परिवर्तित हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप वह विध्वंसक रूप धारण कर सकता है और उस समय आक्रोशित जनता के समक्ष जन-प्रतिनिधि तथा राजनेता ही खड़े नजर आते हैं। भारत के दो पूर्व प्रधानमंत्रियों की हत्या, सांसद फूलन देवी की सरेआम राष्ट्रीय राजधानी के अति व्यस्त अशोक रोड स्थित उनके निवास स्थान में हत्या, मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में प्रदेश काँग्रेस महासचिव पर गोली चलाने की घटना, बिहार सरकार के एक मंत्री की हत्या एक सरकारी अस्पताल में होना और अभी-अभी कुछ दिनों पूर्व आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री एन. चन्द्रबाबू नायडू पर जानलेवा हमला की घटना -ये सब किस बात के परिचायक हैं। इसलिए समय रहते जनप्रतिनिधियों एवं राजनेताओं को अपने में बदलाव लाना आवश्यक है, यह उनके हक में भी बेहतर होगा।

इस देश में राजनैतिक दुराभिचारों व घोटालों का जिस रफ्तार से रहस्योद्घाटन हो रहा है और इस वर्ग के दुराभिचारियों-घोटालेबाजों की संख्या में जिस रफ्तार से इजाफा हो रहा है, उसके मद्देनजर आदमी का यह यकीन पक्का होता जा रहा है कि अब इस देश में बेदाग चादरवाले राजनैतिक सदाचारियों की तलाश एक फिजूल की कसरत हो गयी है। आश्चर्य की बात यह है कि किसी कोने से इन घटनाओं को गंभीरता से लेने का कोई संकेत नजर नहीं आता। जाहिर है कि यह सब जो हो रहा है, वह किसी एक दिन की आकस्मिकता नहीं हैं इस मवाद के फूट निकलने की एक दीर्घ प्रक्रिया रही होगी। दुर्भाग्यवश आज आचरण और अनुकरण के सिवा मूल्याँकन और विचार की प्रक्रिया एकदम ठप्प पड़ गयी है। आचरण और अनुकरण पर निर्भर देश में परिणामों की ओर से बड़ी निश्चिंतता है। एक दुराचार के बाद दूसरा दुराचार, एक घोटाले के बाद दूसरा घोटाला, एक आरक्षण के बाद दूसरा आरक्षण का हंगामा हो रहा है। किसी को विचार करने की जरूरत नहीं कि आखिर यह सब क्यों हो रहा है?

जनतंत्र की आकांक्षा और कामकाजी तबके के खून पर संपन्नता से फूलने वाले

परजीवी शासक वर्ग की सहज पहचान होता जा रहा है घोटाला। कानून की पकड़ में आ जाने के बावजूद घपले-घोटाला करने वाले शर्मसार नहीं होते, बल्कि उनका रुतबा और बढ़ जाता है और समाज में लोग ज्यादा महिमा मंडित करने लगते हैं। शायद घोटाले से सामाजिक स्वीकृति पा चुके हैं। इसलिये अपना लोकतंत्र उच्छृंखल पूँजी का दास होता जा रहा है और उस पर किसी का नियंत्रण नहीं रह गया है। अब घपले-घोटाले निर्धारित ताकत और संकुचित स्वार्थों की कैद में साँस ले रहे गणतंत्र के काम की चीज होते जा रहे हैं। उनका एक वर्गीय चरित्र है और उसके सूत्रधारों में ग़ज़ब की षड्यंत्रकारी एका भी है, जो आम आदमी के आर्थिक स्वनिर्णय के अधिकार को चाटती जा रही है।

सच तो यह है कि ऐसा आज अचानक नहीं हो रहा है। औपनिवेशिक नकल के आर्थिक-प्रशासनिक ढाँचे में घपलों और घोटालों की गुँजाइश हमेशा रही है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि पहले यह शीर्ष पर कभी-कभी दिखता था अब नौकरशाही-राजनीतिक सांठगांठ ने इसे बड़ा और संगठित विस्तार दे दिया है। सत्तर के दशक में रक्षामंत्री कृष्ण मेनन पर सवालिया निशान भी लगे। उससे पूर्व सन् 1956 में खाद्यान मंत्रालय को करोड़ों की वित्तीय अनियमितता पकड़ी गयी और फिर सन् 1958 में भारतीय जीवन बीमा निगम का मुंदड़ा कांड हुआ जिसका पर्दाफाश फिरोज गाँधी ने किया था। इन घोटालों का भी सबसे बड़ा जरिया भारतीय नौकरशाह और राजनेता ही रहे। उसके बाद से तो इस देश ने लगातार कुछ संस्थागत, कुछ गैर सरकारी बड़े घोटाले ही देखे। तुल मोहन राम कांड, नागर वाला कांड, मारूति प्रकरण, बोफोर्स घोटाला, यूरिया घोटाला, टेलीकाम घोटाला, यू.टी. आई. घोटाला, स्टांप घोटाला, तहलका, हवाला, वर्दी घोटाला, बाबूत घोटाला, सुखोई विमान खरीद घोटाला, शेयर घोटाला, अलकतर घोटाला, चारा घोटाला, बाढ़ राहत घोटाला आदि जैसे सैकड़ों आर्थिक अपराध देश की छाती पर भारी पड़ती जा रही है। लोग सहनशील हैं और भ्रष्टाचार हमारे लोकतांत्रिक जीवन का अंग होता जा रहा है जो बहुत खतरनाक संकेत है। मौजूदा दौर में चिता की बात यही है कि घपलों और घोटालों को सामाजिक स्वीकृति का जामा पहनाये जाने का प्रयास हो रहा है और भ्रष्टाचार के मुद्दों को राजनीतिक सुविधा और असुविधा के तात्कालिक सवालों से जोड़ दिया गया है। घपले और घोटाले की बात इस बात से जुड़ जाती है कि इसका सरकार के अस्तित्व या भविष्य पर क्या असर पड़ने वाला है। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह की ईमानदारी पर भला किसे शक होगा, लेकिन वे भी भ्रष्टाचार के आरोपित मंत्रियों पर जब कोई प्रश्न खड़ा होता है तो तकनीकी जवाब देकर बच निकलने की कोशिश करते हैं। सिर्फ इसलिये कि मौजूदा सरकार का भविष्य उन लोगों पर निर्भर है जिन पर भ्रष्टचार के आरोप हैं। यही तरीका पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भी अपनाया था। लेकिन उन्हें यह नहीं

मालूम कि तकनीकी जवाब देने वालों को जनता पहचानकर बाहर का रास्ता दिखा देती है।

दरअसल जिस बात को लंबे समय से अनुभव किया जा रहा है उसे अब ठोस रूप देने का वक्त आ गया है। चूँकि भ्रष्टाचार का मुद्दा सरकारों के बनने या बिगड़ने से जुड़ गया है, इसलिये अहम सवाल तो यह है कि हम कैसे सरकार बनने की प्रक्रिया या सरकार के गठन संबंधी संवैधानिक व्यवस्था में कुछ ऐसा बदलाव करें ताकि सरकार के मुखिया, प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री के सामने यह समस्या न आये कि उसके किसी फैसले से सरकार चली जायेगी। अनुभवों से यह दुनिया सीख चुकी है कि बिना टिकाऊ और सुदृढ़ सरकार के कोई देश चल नहीं सकता। इस दृष्टिकोण से भ्रष्टाचार का मामला हमारे समक्ष एक गंभीर राजनैतिक संकट बन गया है जो हमारी प्रजातांत्रिक संसदीय प्रणाली को क्षत-विक्षत कर रहा है। इसलिये घोटालों को रोकने के लिये राजनैतिक सक्रियता की जरूरत है।

इन घोटालों से जुड़ा एक और प्रश्न यह है कि घोटालों से अर्जित काला धन, जो कुल आय के लगभग 50 प्रतिशत तक अनुमानित है, राष्ट्र के विकास में कोई भूमिका नहीं निभा पाता, क्योंकि इसका बड़ा हिस्सा विदेशों में नियोजित होता है। इतना धन अगर काला और प्रवासी नहीं होता, तो देश की तस्वीर ही कुछ और होती, देशी बैंकों में बेनामी और विदेशी बैंकों में गुमनाम खातों की बढ़ती संख्या, दलालों का दिन-प्रतिदिन फैलता तंत्र और विकास योजनाओं के नाम पर राष्ट्रीय संसाधनों को अपनी जेब में रखने की अँधी दौड़ ने देश और उससे जुड़ी महत्त्वाकाँक्षा का बेरौनक चेहरा उभार कर रख दिया है। इसलिये आज जरूरत है ऐसे भ्रष्टाचारी लोगों को हिकारत की नजरों से देखने की और ऐसे लोगों का सामाजिक बहिष्कार करने का। जब नजरिया बदलेगा तो लोग स्वयं ऐसे धनोपार्जन का त्याग करेंगे।

विचारहीनता की स्थिति

सच कहा जाए तो विचार वह वेदना है, जो मुद्दे खड़ा करता है। कोख से जीवित बच्चे की लता की तरह वह विचारकों को अपने प्रति संवेदनशील ही नहीं बनाए रखता, आगामी कष्टों के प्रति उत्सुक और सभांवित मृत्यु के प्रति उत्साहित बनाए रखता है। वह अपनी उपस्थिति भूलने नहीं देता। इसलिए आज विचार से कतराया जा रहा है, उसे टाला जा रहा है। उसे महत्त्वहीन और अनावश्यक बताया जा रहा है। उसके उपजने की जमीन को बंजर बनाया जा रहा है। जो कांशीराम के चाँटे को भूल गए, वह मायावती की माया को भी बिसर

जाएँगे। विचारहीनता की स्थिति में भूलना सहज हो गया है। हम हर्षद मेहता को भूल गए, नरसिम्हा राव, चंद्रा स्वामी, सुखराम, जयललिता आदि को भी भूल जाएँगे। आखिर तभी तो अरसों की सरकारी संपत्ति बटोरकर जयललिता ने जेल से जमानत होने के तुरंत बाद ही प्रशासन की पाठ विपक्ष के करुणानिधि को पढ़ाया। जेल की सीखचों में कैद ध्रुव भगत के लिए उनके चहेते ने यह कहकर उनकी रिहाई की माँग कर डाली कि उनकी अनुपस्थिति में क्षेत्र की प्रगति अवरुद्ध हो गयी है। चारा घोटाला के आरोपी लालू प्रसाद पर चल रहे मुकदमें में विलंब के कारण को कहा गया कि उन्हें अनावश्यक तबाह किया जा रहा है और उनके लोगों ने यू. एन. विश्वास का पुतला जलाया। यह लोकतंत्र का माखौल नहीं तो क्या है ?

भ्रष्ट राजनीति एवं नौकरशाही, कमजोर तथा जातिवादी नेतृत्व तथा निहित स्वार्थों के बोझ तले कराहते हुए देश के नागरिकों के आँसू पोछने वाला कोई नजर नहीं आ रहा है। कहीं पर कोई वैचारिक आंदोलन की प्रतिबद्धता नजर नहीं आती। विस्मृति हमारी मानसिक संस्कृति बनती जा रही है। इस पर संजीदगी और तफसील से गौर करने की जरूरत है, क्योंकि विचारों के अभाव के कारणों में पुस्तकें आम आदमी की जेब से बहुत बड़ी होनी भी एक है। पुस्तकालय तो अब मात्र बड़े शहरों तक सीमित हो गए दिखते हैं। बापू को एक सुविधा थी कि उनके जमाने में लोग सोए हुए थे जिन्हें जगाना आसान था। आज के लोग जगे हैं, पर सोए होने का बहाना सीख गए हैं, ऐसी परिस्थिति में इनकी चेतना के और इनमें विचार पैदा करने के लिए उपाय ढूँढ़ने होंगे। लोगों में सोचने, विरोध करने और विचार की जमीन पर एकत्र होने की प्रकृति को पुनः प्रेरित करना होगा। विचार को आंदोलन बनाना होगा और सफाई के लिए खुदाई खिदमतगारों को अपने फावड़े के साथ सीधे अवाम के घरों में जाना होगा। आज लड़ाई तलवार से नहीं, बल्कि विचारों और मूल्यों की लड़ाई लड़नी होगी।

ब्राजील के क्रांतिकारी शिक्षाशास्त्री वालो पेश का कहना है कि ''क्रांति न तो शब्दाडंबर से होती है न सक्रियवाद से, क्रांति होती है आचरण से अर्थात उन संरचनाओं पर किए गए चिंतन और क्रम से, जिनका रूपातंरण किया जाता है।''

आज चिंता इस बात की है कि लोकतांत्रिक संस्थानों की प्रतिष्ठा को कैसे बनाए रखा जाए इसके लिए राजनीतिज्ञों को अपने दायित्व को समझना अत्यंत आवश्यक है। उन्हें दलगत स्वार्थों से ऊपर उठकर कोई ठोस उपाय ढूँढ़ निकालना होगा। ऐसा भी नहीं है कि देश तेजी से उस रास्ते पर बढ़ता जा रहा है जहाँ सिर्फ अँधेरा है और रोशनी की कोई उम्मीद नहीं। हमें अपनी क्षमता परखनी होगी और जिस जगह पर आज हम खड़े हैं उससे आगे बढ़ने के प्रयास करने होंगे। अब भी हमारे लिए काफी संभावनाएँ हैं,क्योंकि अन्ना हजारे, खरे, लिंगदोह सरीखे लोग

भ्रष्टाचार खत्म करने को प्रतिबद्ध हैं। इसलिए हमें उम्मीदें बनाए रखना जरूरी है, क्योंकि उम्मीदों के बिना कुछ भी हासिल नहीं हो सकता।

आज हमें सामाजिक वास्तविकता को समझना होगा, सामाजिक वास्तविकता को समझे बिना लोकतंत्र की चुनौतियों का मुकाबला नहीं किया जा सकता। आज इस बात की आवश्यकता है कि भ्रष्टाचार रहित राजनीति, स्वतंत्र तथा जिम्मेदार न्यायपालिका और विधायिका की सर्वोच्चता को लोकतंत्र के लिए मजबूत किया जाए, क्योंकि आज सबसे बड़ा सवाल है लोकतांत्रिक प्रणाली की विश्वसनीयता का। इस प्रणाली के कारण भ्रष्टाचार बढ़ा है, भ्रष्टाचार से ही इस प्रणाली का संचालन हो रहा है।

इससे अधिक शर्म की बात और क्या हो सकती है कि सेना के वर्दी पहने लोग राष्ट्रीय राजधानी में दिन दहाड़े एक स्कूली नाबालिग छात्रा से सामूहिक बलात्कार करे या फिर दिल्ली के ही एक महत्त्वपूर्ण इलाके में स्वीट्रलैंड की एक राजनयिक के साथ युवक खुलेआम दुष्कर्म करे।

यह देश व समाज राजनीतिबाजों के दोहरे चरित्र और भ्रष्टाचार की पीड़ा को गहराई से भोग रहा है। राजनीतिक दल और उसके नेता जनता के बीच मजाक के पात्र बन गए हैं। उनके भाषणों को सुनने के लिए भीड़ जुटती है, पर जनता उनके भाषणों को मदारी के तमाशे जैसा देख-सुन लेती है, उसे किसी पर भी विश्वास नहीं है। यही कारण है कि कई राज्यों में राजनीतिक दलों एवं उनके नेताओं के लिए एक तरह से चेतावनी भी है कि वे अब भी सुधरें। जनता को बरगलाने की कोशिश चाहे वे जितना भी करें, वह बहकावे में आने वाली नहीं है, क्योंकि जनता अब जान चुकी है कि सभी राजनीतिक पार्टियाँ केवल वोट और कुर्सी की राजनीति कर रही हैं। वोट और कुर्सी की इस आपाधापी के चलते इन पार्टियों के लिए जनता के हित, राष्ट्रनिर्माण और विकास के काम हाशिए पर जा पहुँचे हैं। देश का सुख-चैन, शांति और विकास भाजपा और गैर भाजपावाद की आग में धधक रहा है। राजनीतिक दलों की सत्ता की इस लड़ाई के चलते जनता की कठिनाईयाँ तेजी से बढ़ती जा रही हैं। जनता के लिए अपराधी तत्त्व सिरदर्द बने हुए हैं। बिजली की कमी से कराहते लोग, पीने के पानी के लिए तरसते लोग, रोटी की खातिर गाँव से शहर तथा एक शहर से दूसरे शहर की ओर भागते बेरोजगार नवयुवक, सरकारी अधिकारियों-कर्मचारियों के भ्रष्टाचार और निकम्मेपन को रोते लोग सत्ता पर बैठे हुकमरानों को खलनायक के रूप में देख रहे हैं। इसे देश की बदकिस्मती नहीं तो और क्या कहेंगे?

जातिवाद के जाल में जकड़ी राजनीति

भारतीय राजनीति अब पूरी तरह जातिवाद के जाल में जकड़ चुकी है। राजनीतिक दलों में अब इस बात पर विचार नहीं होता कि जनता के लिए कौन सा उम्मीदवार लाभदायक होगा। सारे दल टिकट इस आधार पर बाँटते हैं कि इस क्षेत्र में कौन सी जाति उन्हें जिता सकती है। जातियों का अब सीधे-सीधे राजनीतिक दलों के बीच बँटवारा हो गया है।

जातीय आधार पर वोट बँटने के खतरनाक नतीजे आज देश के सामने आ रहे हैं। प्राय: हर प्रदेश में अब जातीय दंगे और चुनावी बेमानी आम हो गए हैं। अलग-अलग जातियों ने अपनी जाति की पैरवी करने वाले दलों को ही वोट देने की ठान ली है, भले ही इनके उम्मीदवार मुजरिम और अयोग्य क्यों न हों।

आज की राजनीतिक संस्कृति की खराबी यह है कि कोई भी राजनीतिक दल अब विरोध में रहने की आदत नहीं विकसित कर पा रही है। जन संघर्ष का जो तजुरबा कुछ विरोधी दलों में पहले थी, वे भी अब गायब होते दिखाई दे रहे हैं। उन्हें भी अब सत्ता की कुर्सी ही नजर आ रही है। आजादी के लिए लड़ने वाली काँग्रेसियों की ललक अब लुप्त प्राय है। सत्ता में बने रहने या किसी तरह सत्ता पाने की लालसा ने राजनीतिक संस्कृति को धुँधला बना रखा है।

हालांकि सत्ता पाने की मंसूबा रखना बुरी बात नहीं है पर जिस जल्दबाजी से प्राय: प्रत्येक दल कुर्सी पाने का यत्न करते हैं वह खतरनाक है और लोकतंत्र के लिए खतरे की घंटी भी। मुझे तो ऐसा लगता है कि सत्तासीन रहने वाली पार्टियाँ अपने पिछले कारनामों से स्वयं पतन के कगार पर खड़ी हैं। उसकी विश्वसनीयता के ग्राफ लगातार नीचे आते जा रहे हैं।

इसमें कतई संदेह नहीं कि पिछले कई वर्षों से हो रहे विभिन्न घोटालों ने संसद व विधानमण्डलों को कलंकित करने के साथ ही हमारी राष्ट्रीयता के मूल आधार की जड़ें खोखली कर दीं, क्योंकि वैसे अप्रासंगिक लोग आज देश के नेता बन रहे हैं जिन्हें दो हाथ दूर की भी नहीं सूझती और जिन्हें हमने भविष्यद्रष्टा एवं तारनहार समझ रखा है। चरित्र व चिंतनहीन चतुर लोग देश के भाग्यविधाता बन बैठे हैं। ऐसे लोग सिर्फ आत्मघाती ही नहीं, देशघाती भी हो रहे हैं। राजनीतिक पार्टियाँ अप्रासंगिक और अविश्वसनीय होती जा रही हैं। अप्रासंगिक और अविश्वसनीय होती जा रही संसदीय व्यवस्थाएँ, संसद और नेताओं की वजह से देश अराजकता की ओर बढ़ता दिखाई दे रहा है।

वस्तुत: यह समय राष्ट्रीय चेतना को उन्नत, जाग्रत, प्रखर और तेजस्वी बनाने का है और यह कार्य तभी संभव है जब रुढ़िवादी, अँधविश्वास, जातिवाद

और मजहबी उन्माद को समाप्त करने का प्रयास किया जाए और आज के मर्यादाविहीन नेतृत्व, विलासी, सुविधाभोगी तथा भ्रष्टाचार एवं कदाचार में लिप्त लोगों से जितनी जल्द छुटकारा मिले, उतना ही अच्छा है।

आजादी के उन्सठ सालों में भारतीय राजनीति के दुष्परिणाम की वजह से देश का आर्थिक ढाँचा ऐसा चरमरा रहा है कि पूरी व्यवस्था रूपी जहाज डूब रहा है पर उसके कप्तान यात्रियों से कह रहा है कि कोई संकट नहीं है, किंतु यात्री अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए यथार्थ से चिंतित और व्यग्र हैं। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उसे भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा है, किंतु खुशी इस बात की है कि शिक्षा के प्रसार तथा नई तकनीक और संचार क्रांति की वजह से नेतृत्व के ऊपर का रोमानी रहस्यमय विलय खत्म हो रहा है। दर्जनों चैनलों से विश्व भर में एक साथ चौबीसों घंटे प्रसारित होने वाली खबरों में हर घंटे बाद दिखने वाले नेता हमें रोबदार, अनध्य, भाग्यविधाता नहीं, बल्कि अब भ्रमित, वध्य और अमर्यादित नजर आने लगे हैं। जनचेतना में आया यह मोड़ वहाँ एक सकारात्मक स्थिति भी रचता है जहाँ जनता जागरूक हो रही है। अब अगर जनता कमर कस ले तो सिर्फ किसी पार्टी, कुनबे अथवा जाति का सदस्य होना नेताओं को ज्यादा देर सत्ता में टिकाए नहीं रख सकेगा। उन्हें मीठे सपने नहीं, कोई वादे नहीं, ठोस काम करने के व्यवहारिक ब्योरे जनता को सप्रमाण देने होंगे। आज सबसे बड़ी बात यह है कि पिछले दो दशक में भारत की राजनीति का नक्शा ही बदल गया है। अब हर राज्य का मुख्यमंत्री वहाँ का शासक नहीं, एक प्रकार से मैनेजर है जो विकास का काम कम और सभी जातियों, धर्मों में आग लगाने का काम ज्यादा कर रहे हैं। जबकि आज जरूरत आग लगाने की नहीं, बल्कि समाज के निचले तबके में आई राजनीतिक चेतना के सही इस्तेमाल की है, ताकि वह देश-समाज की तरक्की और भलाई में लग सके, न की सिर्फ खून-खराबे, लड़ाई-झगड़े और तोड़-फोड़ में। कानून एवं विधि व्यवस्था की स्थिति बद से बदतर होती चली जा रही है। उद्योगपतियों के अनुसार कारखाने वहीं लगेंगे जहाँ कानून-व्यवस्था अच्छी होगी, श्रमिक समस्या नहीं होगी, कच्चे माल तथा बिजली उपलब्धता के साथ-साथ लाल फीताशाही का चक्कर नहीं होगा और राज्य का राजनीतिक माहौल शांतिपूर्ण होगा। इस दृष्टिकोण से यदि देखा जाए तो विगत एक दशक में विकास की जगह लूट का खेल अधिक खेला गया है। वैसे विकास के आँकड़े की पोथी भी कम मोटी नहीं हुई है।

प्रकृति में एक स्वाभाविक आंदोलन होता है। मानव आंदोलन भी प्रकृति की तरह ही एक गति प्रदान करने के बाद स्वत: चलते और विकास करते रहते हैं। और अगर वह शिथिल हुआ तो स्वत: ही उसके अंदर से एक या अनेक अन्य

गतिमान शक्तियों का उदय होगा। देश में इस सिद्धांत के अनुरूप आगे आने वाले दिनों में उस गतिमान शक्तियों का उदय होगा, क्योंकि पानी अब सिर से ऊपर चढ़ने लगा है।

भारत के नेताओं को उपदेश देने की बीमारी है। जनता का अपना एक ऐसा मंच होना चाहिए जिसपर नेताओं और अधिकारियों को बुलाकर पूछा जा सके कि वे स्वयं क्या करते हैं। दरअसल उनकी कथनी और करनी में कोई सामंजस्य नहीं होता। जनतंत्र में होने के कारण जनता के लिए यह आवश्यक है कि जनता की गाढ़ी कमाई से कर के पैसे से वेतन पाने वाले शासकों और वोट पाने वाले सांसदों व विधायकों के कार्यकलापों पर वह निगरानी रखे। जनता के सामने मंच पर आकर वह बताए कि पद ग्रहण करने के बाद से उन्होंने पद के अधिकारों और कर्त्तव्यों के अनुसार अपने समाज, नगर, राज्य या देश के लिए आज तक कौन-सा काम किया है। आज स्थिति यह हो गयी है कि पीड़ित जन-समुदाय का दुखड़ा सुनने और उसकी शिकायतों की ओर अधिकारियों का ध्यान दिलाने वाला भी कोई नहीं दिखता। जनता इधर-उधर मारी-मारी फिरती है, वह अधिकारियों और नेताओं के दफ्तरों में चक्कर लगा-लगाकर थक गयी है और हतोत्साह हो गयी है और राजसत्ता किसान, मजदूर, मध्य वर्ग और समाज के हाशिए पर खड़े लोगों को जेल, नजरबंदी, यातना और मौत के हवाले कर रही है। आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक स्वतंत्रता के बारे में अपनी आवाज उठाने वाले मजदूर नेता तथा कर्मचारी संगठनों के नेता भी अब गिरफ्त में हैं। मानवाधिकारों के सवाल भी इसी संदर्भ से जूझ रहे हैं। मैं नही समझता कि राजनीति के वर्तमान स्वरूप को बदले बिना व्यक्ति व समाज की केंद्रीय प्रतिष्ठा वास्तव में कैसे बचेगी। भारत का नागरिक तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ है।

आज जिस दौर से राजनीतिक गतिविधि गुजर रही है, यदि उसकी दिशा नहीं बदली तो वह दिन दूर नहीं जब हमें हजार वर्ष से अधिक विदेशियों की सत्ता में रहने के बाद खंडित भारत के रूप में मिली आजादी को भी गंवाना पड़ सकता है। हम आज जिसे आजादी कहते हैं वह विदेशियों के शासन से सिर्फ इस मायने में ही भिन्न मालूम पड़ती है कि सत्ता के शीर्ष पर अब भारतीय विराजमान हैं। आजादी के लिये संघर्ष के दौरान इस देश के लोग यह जानते थे कि सत्ता में विदेशी लोग भारत की संपदा लूटकर अपने देश में भेजते हैं। आजादी के बाद फर्क सिर्फ इतना ही आया है कि आज विदेशी की जगह हमारे भारतीय राजनेता और प्रशासक देश की संपत्ति को लूटकर विदेशी बैंकों में धन जमा कर रहे हैं। ईसाई आक्रमणकारियों ने भी इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन आदि यूरोपीय देशों में भारतीय संपदा ले जाकर अपनी औद्योगिक क्रांति को सफल

बनाया था। आज अमेरिका सबसे लूटेरा बना हुआ है। अमेरिका विश्व बैंक तथा अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष के माध्यम से अपने अनुकूल हमारे देश से व्यापारिक समझौते के लिये हमें विवश करता है।

इसी प्रकार स्वदेश लूटेरे के रूप में आज इस देश में राष्ट्रभक्त राजनेता, जन प्रतिनिधि, प्रशासनिक अधिकारी देश की संपदा को कानूनी तरीके से लूट रहे हैं।

हमारे युग पुरुषों ने अपने जीवन के तेजस्वी उदाहरण से जन साधारण के सामने शाश्वत जीवन मूल्य स्थापित किया था। आजादी के बलिदानियों ने अत्याचारियों से लड़कर देश को आजाद कराया। आज भारतीय नेतृत्व के सामने एक यक्ष प्रश्न मुँह बाए खड़ा है कि वह हमारे राष्ट्र निर्माताओं की श्रेष्ठ परंपराओं, आदर्शों व सपनों को भूलकर देश को किस अँधकार की तरफ ले जा रहे हैं।। आज लोगों के जीवन मूल्य में चहुँओर गिरावट व भ्रष्टाचार दिख रहा है। देश के समुचित विकास के लिये हमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को छोड़ देश हित की सोचना होगा, इसके लिये देश की जनता को जागरूक होना होगा और सत्ता की तड़प में करोड़ों भारतीयों के स्वाभिमान का मान-मर्दन कर और उनकी भावनाओं से खिलवाड़ कर रहे आज के नेताओं को सबक सिखाने का प्रयास करना होगा। कारण कि लोकतंत्र में व्यक्तियों के तीन हिस्सों शासक, प्रशासक और जनता में बँट जाने की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई है वह थमने की बजाय और अधिक विभाजन कर रही है। जनता को भी राजनीति द्वारा इतने वर्गों में बाँट दिया गया है कि नीचे की श्रेणी में आने वाले को आदमी ही नहीं माना जा रहा है। एक तरफ तो मूल्यों और आदर्शों की बड़ी-बड़ी बातें हो रही है, तो दूसरी तरफ जिस वर्ग से नैतिकता की सबसे ज्यादा उम्मीद की जाती है, वही छद्म ओढ़े हुए है। असल में यह छद्म व्यवस्था-जनित है, परिणाम यह है कि हमेशा एक भ्रामक स्थिति बनी रहती है। इस भ्रामकता से कोई अछूता नहीं रह गया है - न शहर न गाँव। गाँव में भी इधर जो परिवर्तन हुए हैं उसमें सबसे पहले व्यक्ति के विश्वास की हत्या हुई है। स्कूल, पंचायत, जिला परिषद आदि पर कब्जा करने और विरोध का बंदूक से मुकाबला करने का साहस और मनोवृत्ति अचानक नहीं आई। नई पीढ़ी नैतिकताओं का मजाक उड़ाकर पैसे बटोरने के धँधों का समर्थन कुछ देख-सुन और सीखकर ही कर रही है। कौन है इसके लिए जिम्मेदार? इस प्रश्न का जवाब हर सजग नागरिक को आज खोजने की आवश्यकता है। इन स्थितियों से लड़ने के लिये समाज व देश के विचारवान व अन्य प्रबुद्ध लोगों को अपने को तैयार कर उन्हें व्यक्तिगत जीवन में भी इस दोराहेपन से बचना होगा। साहित्य, शोध, संस्कृति तथा समाजोन्मुखी हिंदी पत्रिका

'चक्रवात' जनवरी-मार्च 2005 अंक के संपादकीय में आचार्य निशांतकेतु ने राजनीति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है- "राजनीतिक सुख की तलाश बहुलवाद और बहिर्मुखता में करती है" उन्होंने आगे कहा है कि सिंहासन और कुशासन (कुश+आसन) का फर्क राजनीति और आध्यात्म का है, कृत्रिमता और स्वाभाविकता का है तथा विकृति और प्रकृति का है। इस कारण से उनकी स्पष्ट धारणा है कि राजनीति मरेगी, यह निश्चित है और तब एक शिष्टमंडल पूरे देश में करबद्ध प्रार्थना कर आएगा कि आप विधायक बन जाएँ, मुख्यमंत्री बन जाएँ, सांसद बन जाएँ, प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति बन जाएँ, लेकिन लोग मुस्कुराकर अस्वीकार कर देंगे, तब संविधान को सिंहासन पर रख दिया जाएगा, राजनीति का ऑक्टोपस अपनी मौत खुद बन जाएगा।

कुल मिलाकर देखा जाए तो देश की वर्तमान राजनीतिक प्रक्रिया सामूहिक पतन के उत्प्रेरक का काम कर रही है। आज समाज परिवर्तन तथा विकास प्रक्रिया में निग्रह के स्थान पर शक्ति संचय, नैतिकता की जगह ध नसंपत्ति-अर्जन, देश को सबल और स्वस्थ समाज बनाने की जगह जनोत्तेजन को महत्त्व दिया जा रहा है। इसलिए जनता को सामूहिक विवेक के अभाव में भारी कीमत चुकानी पड़ रही है। दिन-ब-दिन बढ़ती हिंसा, अत्याचार, दुराचार, लूट-डकैती, अपहरण, रंगदारी और अशांति की घटनाएँ इस बात के संकेत हैं कि हमारे नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक मूल्य-मर्यादाएँ ध्वस्त हो रही हैं। परस्पर सौहार्द एवं एक दूसरे की चिंता का अभाव इस बात का सूचक है कि सहिष्णुता, न्याय, नैतिकता और सामाजिक समरसता का जो सुपरिचित मार्ग हमारे स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों, आजादी के लिए सब कुछ त्याग करने वाले नेताओं, मनीषियों, समाज-सुधारकों एवं चिंतकों-विचारकों ने दिखाया था, उसे आज के अधिकांश राजनेताओं ने त्याग दिया है। सबसे बड़ी चिंता की बात तो यह है कि जनता में असंतोष पैदा करने और उसे बनाए रखकर खास समय में उसके इस्तेमाल के राजनीतिक खेल में इन नेताओं के साथ प्रशासन भी शामिल दिखता है, जिसके परिणामस्वरूप जनता की तकलीफ और समस्याएँ और बढ़ रही हैं। इन तथ्यों से जो बात उभर कर आती है वह यह कि किस तरह के लोग आज देश के शासक के पद पर आसीन हो रहे हैं, क्या उनका चरित्र है, क्या उनकी समझ, उनके विचार हैं। क्या उदाहरण वे देश के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। क्या ये लोग अपनी इन हरकतों से नेता या जनप्रतिनिधि बने रहने के काबिल हैं? ऐसी विषम एवं भयावह स्थिति में हम देशवासियों का यही राष्ट्रीय व नैतिक दायित्व बनता है कि अपनी-अपनी सेवाओं अथवा व्यवसायिक सीमा में रहते हुए अपनी जिम्मेदारियों के प्रति और संवेदनशील हों और

सामाजिक एवं राजनीतिक सरोकारों को ज्यादा महत्त्व दें। इसके साथ ही समाज व देश के सजग एवं विचारवान नागरिकों का यह भी फर्ज बनता है कि मिली-जुली कार्यसंस्कृति को विकसित करने तथा समाज व राजनीति को सही दिशा देने के लिए वे सम्मिलित रूप से जहाँ समाज के बोझिल दुख को बाँटने का प्रयत्न करें, वहीं देश के समक्ष खड़ी चुनौतियों का मुकाबला मिलजुलकर करें और अपने तथा देशहित के प्रति जन-चेतना जागृत करने का प्रयास करें, यही समय की माँग है।

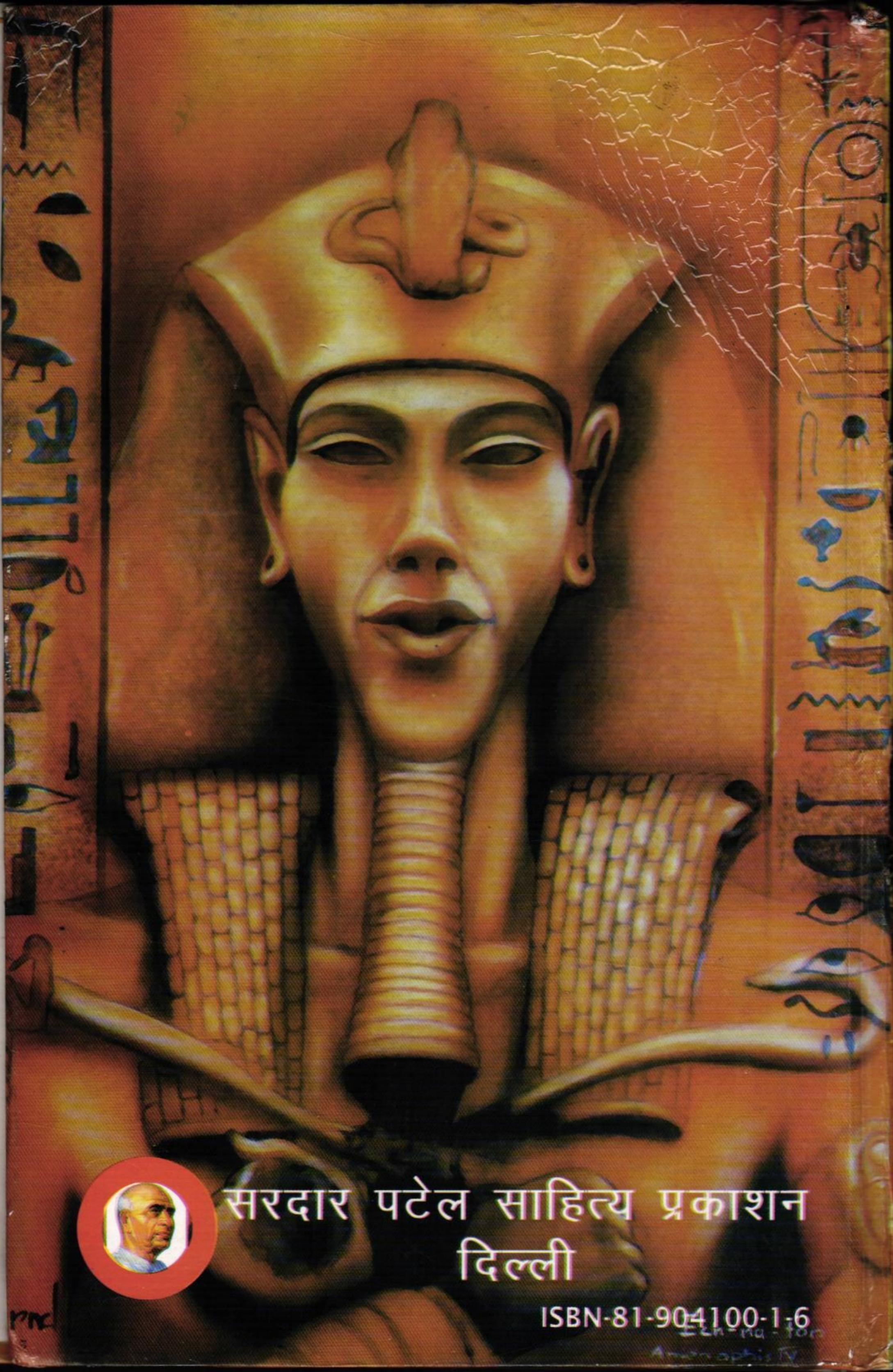

सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन
दिल्ली

ISBN-81-904100-1-6